प्रभाकर माचवे का उपन्यास साहित्य - एक अध्ययन
A STUDY OF THE NOVELS OF PRABHAKAR MACHVE

Thesis submitted to
Cochin University of Science and Technology
for the degree of
DOCTOR OF PHILOSOPHY

By
ROSAMMA JOHN CHULACKAL

Supervising Teacher
Dr. M. SHANMUGHAN

DEPARTMENT OF HINDI
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
KOCHI-682 022

1996

COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE & TECHNOLOGY

DEPARTMENT OF HINDI

Dr.M.SHANMUGHAN
Reader

KOCHI 682 022

24th April, 1996

CERTIFICATE

This is to certify that this thesis is a bona fide record of work carried out by **Rosamma John Chulackal**, under my supervision for Ph.D (Doctor of Philosophy) Degree and no part of this has hitherto been submitted for a degree in any University.

Dr.M.Shanmughan

ACKNOWLEDGEMENT

This work was carried out in the **Department of Hindi, Cochin University of Science and Technology, Kochi - 682 022** during the tenure of fellowship awarded to me by the Cochin University of Science and Technology. I sincerely express my gratitude to the Cochin University of Science and Technology for this help and encouragement.

Rosamma John

Rosamma John Chulackal

Department of Hindi,
Cochin University of Science & Technology,
Kochi - 682 022,

Dated 24.4.1996.

पुरोवाक्

प्रभाकर माचवे एक महान साहित्यकार हैं । यद्यपि वे कवि हैं फिर भी उन्होंने कई लघु उपन्यास लिखे हैं जिसमें अपने समय के सामाजिक जीवन का स्पष्ट चित्र अंकित किया गया है । लेकिन आलोचकों तथा शोधकर्ताओं ने उनके उपन्यासों को वाँछित महत्व नहीं दिया है । इसलिए माचवे के उपन्यासों का विश्लेषण करके उनकी तह में छिपे विभिन्न महत्वपूर्ण पहलुओं को प्रकाश में लाना इस शोध प्रबंध का उद्देश्य है ।

शोध कार्य की सुविधा केलिए इस प्रबंध को छह अध्यायों में विभाजित किया गया है । वे इस प्रकार हैं -

अध्याय एक - प्रभाकर माचवे का व्यक्तित्व एवं सर्जनात्मक व्यक्तित्व ।

अध्याय दो - स्वातंत्र्योत्तर युगीन भारतीय परिवेश और हिन्दी उपन्यास एक रूपरेखा ।

अध्याय तीन - प्रभाकर माचवे का सामाजिक उपन्यास ।

अध्याय चार - प्रभाकर माचवे के व्यक्तिवादी उपन्यास ।

अध्याय पाँच - गांधीवादी दर्शन और माचवे के उपन्यास ।

अध्याय छह - प्रभाकर माचवे के उपन्यासों का शिल्प ।

उपसंहार ।

प्रथम अध्याय प्रभाकर माचवे के सर्जनात्मक व्यक्तित्व पर आधारित है । इसके अंतर्गत प्रभाकर माचवे के संक्षिप्त जीवन परिचय के अलावा उनके साहित्यिक तथा साहित्येतर कार्य कलापों पर प्रकाश डाला

गया है । कविता, उपन्यास, कहानी, आत्मकथा, जीवनी इत्यादि से लेकर शायद ही कोई साहित्यिक विधा है जो माचवे की लेखनी से अछूती रह गयी हो । माचवे बहुमुखी प्रतिभा के धनी हैं । बहुभाषाविद् माचवे ने हिन्दी में 60, अंग्रेज़ी में 17, तथा मराठी में 13 ग्रंथों की रचना की है । उनके बहुभाषा विद्वता तथा घुमक्कड़ स्वभाव ने उनकी रचनाओं को काफी प्रभावित किया है । प्रभाकर माचवे को गांधीवाद ने सर्वाधिक प्रभावित किया है । किसी भी व्यक्ति के जीवन तथा रचना का अकाट्य संबंध होता है । माचवे के जीवन के आधार पर इसी संबंध को उन्मीलित करने का प्रयास इस अध्याय में हुआ है ।

प्रभाकर माचवे की अधिकांश रचनाएँ स्वातंत्र्योत्तर युग में हुई हैं । माचवे की रचनाओं का प्रणयन उस युग के परिवेश को जाने बिना असंभव हो जाएगा । अत: इस प्रबंध के दूसरे अध्याय में स्वातंत्र्योत्तर युगीन परिवेश की विशेषताओं की चर्चा की गयी है । आज़ाद भारत में समग्र परिवर्तन हुआ था । सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में जो परिवर्तन हुआ उसको इस अध्याय के अंतर्गत प्रस्तुत किया गया है । समकालीन उपन्यासकारों की रचनाओं तथा माचवे के उपन्यासों पर परिवेश की स्पष्ट छाया पड़ी है उसको भी इस अध्याय में चर्चा का विषय बनाया गया है ।

अपने उपन्यासों में माचवे ने एक समाज-शास्त्री की दृष्टि प्रस्तुत की है । मध्यवर्गीय जीवन की जटिल समस्याएँ उनकी तूलिका की

प्रमुख लक्ष्य रही है । उन्होंने सामाजिक समस्याओं को खुली आँखों से देखा है ; तटस्थता के साथ चित्रित भी किया है । सामाजिक मूल्यों के विघटन पर वे दुखी हैं । पुरुष प्रधानता, दहेज प्रथा, पारिवारिक विसंगति, जीवन में यंत्रीकरण आदि सामाजिक समस्याओं को माचवे ने जिस दृष्टि से देखा था उस पर प्रकाश डालना तीसरे अध्याय का लक्ष्य है ।

चौथा अध्याय प्रभाकर माचवे के व्यक्तिवादी उपन्यासों पर आधारित है । माचवे व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के समर्थक हैं । इसलिए उन्होंने वैयक्तिक जीवन की जटिलताओं को खूब चित्रित किया है । स्वातंत्र्योत्तर युग में समाज की अपेक्षा व्यक्ति अधिक प्रमुख हो गया । संयुक्त परिवार प्रणाली की जड़ें उखाड़ गयीं । अतः व्यक्ति को नयी नयी समस्याओं का सामना करना पड़ा । वह अधिक स्वार्थी हो गया । वह व्यापारिक मानसिकता का शिकार हो गया । इन सब के बावजूद भी नारी की अस्मिता की समस्या चुनौती ही बनी रही । अकेलापन, अपनी अस्मिता को बनाए रखने की छटपटाहट इत्यादि व्यक्ति जीवन की अनेक समस्याएं माचवे के उपन्यासों में चर्चित हैं । उन प्रसंगों में माचवे का जो दृष्टिकोण रहा, उसका विश्लेषण करने का प्रयास इस चतुर्थ अध्याय में हुआ है ।

महात्मा गांधी मात्र एक राजनीतिक कार्यकर्ता नहीं थे बल्कि एक समाज सुधारक और दार्शनिक भी थे । भारतीय समाज उनसे काफी प्रभावित रहा है । उनका दर्शन सत्य और अहिंसा के आधार पर

गठित है । वर्ग सहयोग, विकेन्द्रीकरण, ट्रस्टीशिप, हृदय परिवर्तन तथा सत्याग्रह इत्यादि सत्य की मंजिल तक पहुँचने के साधन हैं । प्रभाकर माचवे गांधीदर्शन से अत्यधिक प्रभावित थे । वे अपने उपन्यासों में गांधी दर्शन के आधार पर आधुनिक समाज का विश्लेषण करते हैं । अपना मतलब निकालने केलिए अनेक लोग गांधीवादी होने का मुखौटा पहनते हैं । उनमें राजनीतिक कार्यकर्त्ता, समाज सेवक, सांस्कृतिक कार्यकर्त्ता आदि प्रमुख हैं । आज औद्योगीकरण तथा शहरीकरण को बढावा मिल रहा है जबकि गांधीजी उनका विरोध करते थे । गांधीजी का विश्वास था कि ग्राम्य विकास के माध्यम से ही भारत का विकास संभव होगा । अत: पंचम अध्याय में गांधीवाद का स्वरूप संक्षेप में प्रस्तुत करके उसका जो प्रभाव माचवे के उपन्यासों पर पडा है, उस पर विचार किया गया है ।

छठा अध्याय शिल्प पर आधारित है । माचवे प्रयोगकार हैं । उनके प्राय: सभी उपन्यास किसी नए प्रयोग लेकर उपस्थित होते हैं । प्रचलित सभी साहित्यिक विधाओं का प्रयोग उनके उपन्यासों में हुआ है । उनमें विवरणात्मकता की कमी है, बल्कि रेखाचित्रात्मकता अधिक है । कविता, कहानी, निबंध, डायरी, रिपोर्ताज, उद्धरण, पत्र इत्यादि अनेक विधाएँ माचवे के उपन्यासों के अंग बन गई हैं । कभी कभी पाठक को गलत फहमी हो जाती है कि यह विभिन्न साहित्यिक विधाओं का एक संग्रह है । माचवे के उपन्यासों में प्रयोग कभी कभी इस हद तक हुआ है कि बोझिल और अबूझ महसूस होने लगता है ।

उपसंहार में उपन्यासकार के रूप में प्रभाकर माचवे की खूबियों तथा खामियों की चर्चा की गयी है । साथ ही मैं ने अपनी शोध दृष्टि की समग्रता को भी संक्षेप में प्रस्तुत किया है ।

डॉ. एम्. षण्मुखन् के मार्ग निर्देशन में यह शोधकार्य संपन्न हुआ है । उनके प्रति मैं कृतज्ञता सहित आभारी हूँ जिनकी मित्र सहज प्रेरणा तथा सहयोग इस कार्य के सुचारू रूप से संपन्न होने में सहायक रहे हैं । आचार्या डा. एम्. ईश्वरी का मैं आभारी हूँ जिन्होंने विभागाध्यक्षा के रूप में मेरी मदद की है । आचार्य (डा.) विजयन जी का भी मैं कृतज्ञता सहित आभारी हूँ जिनके स्नेह और प्रोत्साहन हमेशा मेरी प्रेरणा रही हैं ।

पुस्तकालयाध्यक्षा श्रीमती कुञ्ञिक्कावुट्टि तंपुरान और उनके सहायक श्री एण्टणी का भी आभार हूँ जिन्होंने मेरी सहायता की है ।

शोध क्षेत्र में मेरा उतना अनुभव नहीं है । अतः इसमें कमियाँ हो सकती हैं । उन केलिए मैं क्षमा प्रार्थी हूँ ।

Rosamma John

रोसम्मा जोन पुलक्कल

हिन्दी विभाग
विज्ञान व प्रौद्योगिकी
विश्वविद्यालय
कोचिन - 682022.

तारीख 24 अप्रैल 1996.

विषय सूची

पृष्ठ संख्या

अध्याय एक — 1 - 37

प्रभाकर माचवे का व्यक्तित्व एवं सर्जनात्मक व्यक्तित्व

माचवे की शिक्षा - गांधीजी से भेंट - विवाह - कर्मपथ में कर्मठ - कर्मपथ का प्रथम सोपान - अध्यापक माचवे - घुमक्कड - आकाशवाणी की सेवा - साहित्य अकादमी की सेवा - सेवानिवृत्त की व्यस्तता - भारतीय भाषा परिषद् की सेवा - प्रभाकर माचवे की मृत्यु - बहुभाषाविद् - गतिशील विश्वकोष - वक्ता माचवे - विनोदप्रियता - "सादा जीवन - उच्च विचार" - प्रभाकर माचवे का सर्जनात्मक व्यक्तित्व - चित्रकार माचवे - माचवे जी के रेखाचित्र - कवि माचवे - उपन्यासकार माचवे - कहानीकार माचवे - एकांकीकार माचवे - समीक्षक माचवे - अनुवादक माचवे - संपादक माचवे - आत्मकथा तथा जीवनीकार माचवे - व्यंग्यकार माचवे - साहित्यिक तथा साहित्येतर महारथियों के साथ संबंध - उपसंहार ।

अध्याय : दो — 38 - 78

स्वातंत्र्योत्तर युगीन भारतीय परिवेश और हिंदी

उपन्यास एक रूपरेखा

स्वातंत्र्योत्तर युग - सामाजिक परिस्थितियाँ - व्यक्ति की पहचान - परंपरागत पारिवारिक ढाँचे का विघटन -

पृष्ठ संख्या

नारी के प्रति समाज के दृष्टिकोण में परिवर्तन - राजनीतिक परिस्थितियाँ - विभाजन का दर्द - शरणार्थी समस्या - गाँधीजी की हत्या - प्रमुख राजनीतिक दलें - रियासतों का विलोनीकरण - आम चुनाव - भारत की विदेश नीति - नेतागिरी और स्पर्धा की राजनीति - सामंतवाद का बदलता रूप - सांप्रदायिकता की पकड - स्वातंत्र्योत्तर आर्थिक स्थिति - विभाजन का आर्थिक क्षेत्र पर प्रभाव - वर्ग भावना की जागृत स्थिति - पंचवर्षीय योजनाएँ - विकास की दिशा में अन्य प्रयास - सहकारी समितियाँ - कुटीर उद्योग में प्रगति का प्रयास - औद्योगीकरण और उसका प्रभाव - सांस्कृतिक परिस्थितियाँ - बदलती नैतिक दृष्टि - दार्शनिक परिवर्तन - भारतीय जन जीवन को प्रभावित करनेवाले अन्य दर्शन - मानवतावाद का महत्व - भारतीय संस्कृति - स्वातंत्र्योत्तर भारत में सांस्कृतिक परिवर्तन - स्वातंत्र्योत्तर युगीन हिन्दी उपन्यासों में समसामयिक भारतीय परिवेश का प्रभाव - स्वातंत्र्योत्तर युग और प्रभाकर माचवे ।

अध्याय तीन 79 - 108

प्रभाकर माचवे का सामाजिक उपन्यास

माचवे का सामाजिक दृष्टिकोण - नारी समस्या - दहेज प्रथा - पुरुष प्रधानता का प्रभाव - समाज में नारी - पारिवारिक विसंगति - आर्थिक पृष्ठभूमि -

पृष्ठ संख्या

व्यक्ति जीवन की समस्याएँ - भौतिकता पर आधारित जीवन - झूठा आदर्शवाद - व्यापारिक मानसिकता - जीवन में यांत्रिकता - यंत्रीकरण की व्यापकता - तीर्थ स्थानों में भ्रष्टाचार - धर्म के नाम पर अधर्म - गांधीवाद का प्रभाव - सामाजिक कुरीतियाँ - राजनीतिक क्षेत्र - साहित्यिक क्षेत्र - समाज सेवा का क्षेत्र - निष्कर्ष ।

अध्याय चार 109 - 144

प्रभाकर माचवे के व्यक्तिवादी उपन्यास

वैयक्तिक जीवन की जटिलता - व्यापारिक मानसिकता की प्रवृत्ति - झूठे आदर्शवाद और मूल्य विघटन - व्यक्ति की अस्मिता की समस्या - नारी की अस्मिता की समस्या- अकेलापन की समस्या - निष्कर्ष ।

अध्याय पाँच 145 - 189

गांधीवादी आदर्श और माचवे के उपन्यास

गांधीवाद - अहिंसा - विकेन्द्रीकरण - ट्रस्टीशिप - हृदय परिवर्तन और सत्याग्रह - प्रभाकर माचवे के उपन्यासों में गांधीवाद का प्रभाव - सत्य और अहिंसा - गांधीवाद एक मुखौटा - गुमराह करनेवाले नेता - गांधी सिद्धांत बिकाऊ चीज़ - गांधीवाद में नव पीढी की रुचि तथा अरुचि - गांधीवाद गांधी धर्म - गांधीवाद और शहरीकरण - अमर गांधीवाद - सत्य को अवहेलना -

पृष्ठ संख्या

बदला लेना भी हिंसा है - सभ्यता के नाम पर हिंसा - मनुष्य का सात्विक पक्ष - प्रभाकर माचवे के उपन्यासों में गांधीजी की विकेन्द्रीकरण नीति - अर्थसंग्रह बुराई की जड - राजनीति धनार्जन का साधन - नारी समाज का सुधार - गांधीवादी गुंडा - लाटरी गांधी विरोधी कार्यक्रम - छात्रों का कर्मपथ - वर्ग सहयोग का व्यावहारिक पक्ष - प्रभाकर माचवे के उपन्यासों में गांधीजी की वर्ग सहयोग नीति का सर्वेक्षण - धनाश्रित वर्ग विभाजन - धर्माश्रित धनार्जन - वर्ण भेद से जुडे हुए कुछ प्रसंग - प्रभाकर माचवे के उपन्यासों में गांधीजी की सत्याग्रह नीति का प्रणयन - उपसंहार ।

अध्याय छह 190 - 230

प्रभाकर माचवे के उपन्यासों का शिल्प

माचवे के उपन्यासों की शिल्पविधि - चेतनाप्रवाह पद्धति - पुरुष प्रधान समाज में नारी की अस्मिता की समस्या "दाभा" - आदर्शवाद के खोखलेपन का उभार "एक तारा" - मानवता की अभिशाप साँचा - प्रयोग का एक नया आयाम - "द्रुत" - वर्णभेद पर सम्यक् चिंतन की अभिव्यक्ति "जो" - अनेक कहानियों की एक कहानी तीस-चालीस-पचास - व्यक्ति की अस्मिता की खोज "लापता" - पुरुषार्थों का ह्रासोन्मुख परिणाम का चित्रण : "किसलिए" -

पृष्ठ संख्या

मानव जीवन की विवशताओं को खोज : "लक्ष्मीबेन" -
विभाजन की वेदना का उभार "कहाँ से कहाँ" -
नारी की असीम शक्ति को खोज "दशभुजा" - व्यापक
मूल्य विघटन का लेखा जोखा - "अनदेखी" - निष्कर्ष ।

उपसंहार 231 - 234

संदर्भ ग्रंथ सूची 235 -

अध्याय : एक

प्रभाकर माचवे का व्यक्तित्व एवं सर्जनात्मक व्यक्तित्व

महाराष्ट्र पर्वत, झीलों, बीहड़ जंगलों से युक्त प्रकृति रमणीय राज्य है । यह उत्तर-दक्षिण की सबसे महत्वपूर्ण कड़ी भी है । यह जितना दक्षिण से संबंध रखता है उतना ही उत्तर का भी सहभागी है । प्राचीन काल से ही महाराष्ट्र उत्तर-दक्षिण के पारस्परिक आदान-प्रदान का केन्द्र रहा है ।

हिन्दी साहित्य के विकास की दृष्टि से महाराष्ट्र अन्य सभी राज्यों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है । अगस्त्य मुनि, कालिदास, भवभूति, दंडि आदि प्राचीन साहित्यिक महाराष्ट्र के निवासी रहे थे । यह परंपरा आज तक अक्षुण्ण रही है । इसी राज्य के ग्वालियर शहर में प्रभाकर बलवंत माचवे का जन्म 26 दिसंबर 1917 को अपने माता पिता की अंतिम तथा चौदहवीं संतान के रूप में हुआ । उनके आठ वर्ष की अवस्था में पिता बलवंत विट्टल माचवे का देहांत हुआ । फिर भी पिता के संस्कृत प्रेम तथा अनुशासन-प्रियता का प्रभाव माचवे में ज़रूर दिखाई देता है ।

माचवे की शिक्षा

प्रभाकर माचवे की प्रारंभिक शिक्षा घर पर ही हुई । तेरह वर्ष की अवस्था में रतलाम से हाईस्कूल परीक्षा उत्तीर्ण की । सन् 1935 में क्रिश्चियन कालेज, इन्दौर से बी.ए. किया । इसके साथ ही वह इन्दौर स्कूल आफ आर्ट के छात्र थे, जिसके फलस्वरूप वह एक चित्रकार भी बने । सन् 1936 में साहित्यरत्न परीक्षा पास की । अठारह वर्षीय माचवे ने इस

---

1. श्री.जगदीश नारायण वोरा, लेख : "प्रभाकर माचवे: एक बहुरंगी व्यक्तित्व" अक्षर अर्पण, पृ. 18.

परीक्षा में कविता और रहस्यवाद विषय पर लेख लिखा जो (हिन्दी साहित्य सम्मेलन में) सुरक्षित है ।

इन्दौर की पढ़ाई के पश्चात् कानून पढने आगरा गए, परंतु रटने की आदत न होने के कारण अनुत्तीर्ण हुए । यह जीवन की एकमात्र परीक्षा थी जिसमें उन्होंने असफलता स्वीकार की । 1937 में आगरा विश्व-विद्यालय से एम.ए. (दर्शन) प्रथम स्थान प्राप्त किया । 1945 में उन्होंने अंग्रेज़ी में दुबारा एम.ए. किया और दूसरा स्थान प्राप्त किया । मध्यभारत तथा आगरा में पहले तथा अखिल भारत में वह दूसरे मराठी भाषी है; जिन्हें हिन्दी-मराठी निर्गुण संतकाव्य के शोध ग्रंथ पर पी.एच.डी. की उपाधि मिली है ।[1] ट्यूशन, साइन-बोर्ड पेंटिंग, लेखन आदि से जो आय मिलती वही खर्च करके उन्होंने अधिकांश शिक्षा पायी ।[2]

गांधीजी से भेंट

महात्मागांधी के आदर्शों तथा स्वराज्य-आंदोलन से माचवे काफी प्रभावित थे । गांधीजी के साथ माचवे का सीधा संपर्क 1939 में हुआ । तत् पश्चात् सन् 1942 तक छोटी और बडी छुट्टियों में वह लगातार बापू के चरणों में सेवाग्राम जाते रहे । इस संपर्क से उनकी प्रारंभिक दृष्टि में काफी परिवर्तन हुआ । आचरण तथा वेशभूषा में वे एकदम स्वदेशी बन गए । यह कोई अस्थाई प्रभाव नहीं था । उनकी रचनाओं में गांधीवाद का जबरदस्त प्रभाव पडा है । इसे गांधीजी के साथ उनकी नज़दीकी का प्रभाव ही माना जा सकता है ।

---

1. श्री जगदीश नारायण वोरा, अक्षर अर्पण, लेख प्रभाकर माचवे: एक बहुरंगी व्यक्तित्व, पृ. 18.
2. वही

विवाह

गांधीजी के साथ निकट परिचय हो जाने के बाद माचवे हमेशा उनके सेवाग्राम में जाया करते थे । वहीं 8 नवंबर 1940 में उनका विवाह हुआ । पत्नी शरद परनेरकर सभी अर्थों में एक संगिनी ही थी । उन्होंने हमेशा माचवे के बहुमुखी व्यक्तित्व को विकासोन्मुख रखा था । जैसे जगदीश चतुर्वेदी ने सूचित किया है -"माचवे जी की अध्ययन पिपासा को अनवरत बनाए रखने में श्रीमति माचवे का सहयोग सर्वोपरि रहा है ।"[1]

कर्मपथ में कर्मठ :-

प्रभाकर माचवे अपने कर्तव्यों के संदर्भ में किसी भी प्रकार के समझौते केलिए तैयार नहीं थे । पूरी दिलचस्पी के साथ वे सभी कार्य कर लेते थे - "उन्होंने सरकारी तथा सार्वजनिक क्षेत्र के ऊँचे पदों पर रहकर सराहनीय कार्य किया और आगे भी कार्य करते रहने का उनमें असीम उत्साह था । वे न तो कभी थकते, न ही अपने सहकर्मियों को थकने का कभी अवसर देते थे । वे निरंतर योजनाबद्ध क्रियाशीलता के पक्षधर थे और नये दिशा-संकेत की तलाश में जागरूक रहते थे ।"[2] आशारानी व्होरा लिखती है -"उनकी आंतरिक ऊर्जा, कर्मठता, सहज प्रत्युत्पन्नमति, विलक्षण रूप में तीव्र स्मृति तत्परता और निरंतर सक्रियता किसी भी सामान्य व्यक्ति केलिए ईर्ष्या की वस्तु हो सकती है ।"[3]

---

1. जगदीश चतुर्वेदी का लेख -"प्रभाकर माचवे - कवि, चिंतक और अध्येता" - भाषा - दिसंबर 1991, पृ. 12.
2. नर्मदेश्वर चतुर्वेदी -"माचवे जी मानस क्षितिज पर" लेख - राष्ट्रभाषा संदेश 25 अगस्त 1991, पृ. 3.
3. आशारानी व्होरा, मैं इन से मिली (द्वितीय खण्ड), पृ. 471.

प्रभाकर माचवे कभी बेकार बैठना नहीं चाहते थे । "फुर्सत उनको चिर बैरी है । कभी भी जाइए या तो बाहर से आए किसी साहित्यिक या कलाकार से बातचीत चल रही होगी या लेख, नहीं तो पुस्तक लिखी जा रही होगी । यह भी नहीं तो अनुवाद । पत्रों का उत्तर देने तथा संग्रह का व्यसन भी है गांधीजी, प्रेमचंद जी से लेकर कई आधुनिक लेखकों के पत्र उनके संग्रह में मिल जायेंगे ।"[1] विष्णु खेरे ने उनके व्यस्त जीवन की एक घटना का यों चित्रण किया है -"1968 की एक शाम करीब सवा पांच बजे थे दफ्तर से लौटे । चिट्ठियाँ खोलीं । एक पत्र अंग्रेज़ी पत्रिका "समीक्षा" के संपादक एम. गोविन्दन का था जिन्होंने अविलम्ब गुजराती साहित्य पर एक लेख मांगा था । माचवे जी ने तत्काल उसे लिखना शुरू कर दिया । साढ़े छह बजे डाक बक्से में डालकर भी आ गए ।"[2]

सेवानिवृत्त होकर भी माचवे व्यस्त रहे । इसके बारे में वे कहते हैं -"मेरे पास अध लिखी कई चीज़ें पडी है । अखबारों में छपी बिखरी इतनी सामग्री हैं कि फुरसत मिले तो कुछ करूँ । कई देशों के यात्रा-संस्मरण, रेखाचित्र जमा हैं । कई लेखकों, महापुरुषों के हस्ताक्षर सहित मेरे बनाए रेखाचि मेरे पास हैं । कई साहित्यकारों के पत्र हैं । बनाऊँ तो 10 पुस्तक बनें इतनी सामग्री बिखरी है । और व्यस्तता का यह आलम कि पत्र-पत्रिकाओं की माँग पर ही रोज़ एकाध लेख लिखना पड रहा है । रेडियो, टेलिविज़न का मामला अलग । बीस से अधिक यूनिवर्सिटियों में पी.एच.डी. की परीक्षा की और सार्वजनिक सभा-सम्मेलनों में व्याख्यान आदि की व्यस्तताएँ अलग । ऐसे में अपना काम कितना हो कैसे हो ?"[3]

---

1. श्री जगदीश नारायण वोरा, अक्षर-अर्पण, लेख- प्रभाकर माचवे एक बहुरंगी व्यक्तित्व, पृ. 18.
2. विष्णु खरे, लेख-भारतीय साहित्यों का सेतु, नवभारत टाइम्स, बंबई 23 जू 1991.
3. आशारानी व्होरा, मैं इन से मिली (द्वितीय खण्ड), पृ. 51.

कर्मपथ का प्रथम सोपान

1936 में दर्शन शास्त्र में एम.ए. करने के बाद सहज ही माचवे सोचने लगे कि अब क्या करें । स्वतंत्रता संग्राम ज़ोरों पर था । उस वक्त माहौल ऐसा था कि हर नौजवान न सिर्फ जागरूक था, बल्कि संग्राम में कूदना भी चाहता था । माचवे भी कुछ करना चाहते थे ।[1] 25 जून 1937 को वह पहले पहल नौकरी के क्षेत्र में प्रविष्ट हुए और 40 रु. प्रतिमास पर मज़दूर संघ, इंदौर के मंत्री नियुक्त किए गए ।[2] माचवे जो करते थे पूरी ईमानदारी के साथ करते थे । उक्त पद में रहकर इस बात में कुछ बाधा आ पड़ी जिसका उल्लेख पद्मा सचदेव ने किया है - "इधर हमें सेक्रेटरी के तौर पर अहमदाबाद भेजा गया । फिर हमने बड़ौदा में हड़ताल करवायी । यह हड़ताल मालिक - मज़दूर के बीच बातचीत होने के मुद्दे को लेकर थी । पर यह काम हमें कुछ धीमा लग रहा था । सो हमने छोड़ दिया ।"[3] वहाँ उनका सेवाकाल जून 1937 से लेकर अक्तूबर 1937 तक ही था ।

अध्यापक माचवे

प्रभाकर माचवे के सेवाकाल का दूसरा दौर माधव कालेज, उज्जैन में लेक्चरर होने के साथ प्रारंभ हुआ ।[4] 1937 में वे दर्शन शास्त्र विभाग के प्राध्यापक नियुक्त हुए । माचवे अध्यापक के रूप में बड़े सफल रहे थे

---

1. पद्मा सचदेव, लेख डा.प्रभाकर माचवे - एक उन्मुक्त ठहाके का खोना, धर्मयुग, जुलाई, 1991, पृ. 32.
2. श्री जगदीश नारायण वोरा, अक्षर अर्पण, लेख:प्रभाकर माचवे: एक बहुरंगी व्यक्तित्व, पृ. 19.
3. पद्मा सचदेव, लेख :डा.प्रभाकर माचवे - एक उन्मुक्त ठहाके का खोना, धर्मयुग, जुलाई 1991, पृ. 32.
4. श्री जगदीश नारायण वोरा, लेख प्रभाकर माचवे एक बहुरंगी व्यक्ति अक्षर अर्पण, पृ. 19.

उसके बारे में श्री जगदीश नारायण वोरा लिखते हैं -"यहाँ उनकी लोकप्रियता इतनी बढ़ी की परीक्षाकाल में उनका घर "पोसाल बन जाता था । सबेरे से सांझ तक विद्यार्थियों तथा विद्यार्थिनियों का जमघट बना रहता, उनमें अमीर-गरीब, हरिजन-सवर्ण, दर्शन, अंग्रेज़ी, हिन्दी, मराठी पढनेवाले सब शामिल होते ।"[1] उनके शिष्यों में प्रकाशचंद्र गुप्त, मुक्तिबोध, हरिनारायण व्यास, नरेश मेहता, जगदीश चतुर्वेदी आदि अनेक यशस्वी साहित्यकार भी आते हैं ।

अध्यापन काल में माचवे की सफलता के बारे में कहा गया है कि "उनकी स्मरण शक्ति अद्भुत थीं । उनकी जानकारियों का क्षेत्र असीमित था । बडी सहजता के साथ कठिन से कठिन विषय पर अपने विचार व्यक्त करने की उनमें अद्भुत क्षमता थी ।"[2]

माचवे के खुला स्वभाव, सादगी, पांडित्य आदि ने उनके विद्यार्थियों को काफी प्रभावित किया है । उनके विद्यार्थी उन्हें "गुरू" मानते थे । उनके लिए माचवे सच्चे पथ प्रदर्शक ही थे ।

घुमक्कड

प्रभाकर माचवे की ज्ञान संपदा का एक प्रमुख कारण उनकी यायावरी प्रवृत्ति है । वे एक घुमंतु थे । देश-देशांतर की अनेक यात्राएँ उन्हें एक छात्र सहज जिज्ञासा के साथ की है । महापंडित राहुल सांकृत्यायन की

---

1. श्री जगदीश नारायण वोरा, लेख: प्रभाकर माचवे एक बहुरंगी व्यक्तित्व अक्षर अर्पण, पृ. 19.
2. डा. कैलाश चन्द्र भाटिया, लेख : बहुभाषाविद और साहित्यकार डा. प्र. माचवे, भाषा - त्रैमासिक, दिसंबर 1991.

प्रेरणा का उल्लेख करना इस प्रसंग में अनिवार्य है - "वस्तुत: माचवे जी ने घुमक्कड़ी और सतत अध्ययन का व्रत राहुल जी से ही ग्रहण किया था और जीवन-पर्यन्त अपनी साधना को अक्षुण्ण रख सके ।"[1] भारत की सभी जगह वे गए हैं । 1959 में वे प्रथमत: विदेश गए । अमरीका के दो विश्व विद्यालयों में कुछ पाठ्यक्रम पढाने के सिलसिले में ही वे गए थे । साथ-ही-साथ भारतीय धर्म, दर्शन और ललित कलाओं पर वहाँ उन्होंने व्याख्यान भी दिये । 1961 में उन्होंने यूरोप के मध्यपूर्व के 13 देशों की यात्रा की । 1963 में वे श्रीलंका गए । 1967 में जर्मनी तथा 1972 में वे रूस गए । 1973 में वे सांस्कृतिक आदान-प्रदान के लक्ष्य से बांगला देश गए । 1980 में उन्होंने जापान फाउंडेशन के निमंत्रण पर जापान, हांगकांग, थाइलैंड आदि जगहों का दौरा किया ।[2]

माचवे ने अपने काव्य संग्रह "स्वप्न भंग" की एक कविता में लिखा हैं -

"मेरे मन के भीतर कोई जिप्सी या घुमंतू बैठा,
यात्रा, यात्रा, केवल यात्रा, यात्रा, यात्रा, यात्रा ।"[3]

प्रभाकर माचवे के लिए यात्रा करना सिर्फ किसी विनोदप्रियता से जुडा हुआ नहीं । वे हमेशा एक जिज्ञासु थे । जिस जगह वे जाते थे उस जगह की सारी विशेषताओं को आत्मसात करते थे । इतना ही नहीं उन्हें लिपिबद्ध भी करते थे । अनेक यात्रा विवरण उन्होंने प्रकाशित भी किया है ।

---

1. जगदीश चतुर्वेदी, लेख प्रभाकर माचवे कवि, चिंतक और अध्येता, भाषा त्रैमासिक, दिसंबर 1991, पृ. 13.
2. आशारानी व्होरा का लेख, चलते फिरते विश्वकोष, डा.प्रभाकर माचवे, मैं उनसे मिली, पृ. 47.
3. जगदीश चतुर्वेदी, लेख प्रभाकर माचवे कवि, चिंतक और अध्येता, भाषा त्रैमासिक, दिसंबर 1991, पृ. 15.

आकाशवाणी की सेवा

तत्कालीन रियासत के द्वारा तंग किए जाने के कारण उनके अध्यापकीय पद की वेतन वृद्धि रुक गयी थी । आकाशवाणी में स्वतंत्र रूप से उनकी कलात्मक रुचियों का विकास संभव था । इन कारणों से उन्होंने अध्यापन कार्य छोडकर आकाशवाणी (नागपुर) की सेवा 1948 में शुरू की । उसके बाद, आकाशवाणी के इलाहाबाद, दिल्ली, लखनऊ आदि केन्द्रों में भी उन्होंने सेवा की ।[1] वे कहते हैं कि जब उनके मित्र गिरिजाकुमार माथुर आकाशवाणी में थे उन्हें भाषण केलिए बुलाया जाता था । इस प्रकार उनका जो पूर्वानुभव था उसी ने उनकी काफी मदद की ।[2] आकाशवाणी में रहकर विभिन्न स्तर के लोगों से उनका निकट संबंध हो गया था जिनमें कविवर सुमित्रानंदन पंत भी थे ।

साहित्य अकादमी की सेवा

1954 में जब साहित्य अकादमी की स्थापना हुई तब माचवे उपसचिव के रूप में नियुक्त हुए । जैनेन्द्र कुमार, बनारसीदास चतुर्वेदी, काका कालेलकर, उमाशंकर जोशी, आदि उस समय अकादमी की कार्यकारिणी सभा के सदस्य थे । 1971 में वे साहित्य अकादमी के सचिव नियुक्त हुए । 1975 को उस पद से वे स्वेच्छा से सेवा निवृत्त हुए ।

अकादमी के पदाधिकारी के रूप में देश-देशांतर में उन्हें साहित्य विषयक संगोष्ठियों का आयोजन करना पडा था । विभिन्न

---

1. प्रभाकर माचवे, From self to self, P. 55-56, Vikas Publicat New Delhi, (1976 संस्करण)
2. वही, पृ. 57.

भाषाओं के प्रति उनकी जो रुचि थी उसके कारण विभिन्न भारतीय भाषा-भाषियों के बीच में वे लोकप्रिय भी हो गए थे । प्राय: सभी भारतीय भाषाओं की नवीनतम गतिविधियों का ज्ञान उन्हें था । इसके संबंध में श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी लिखते हैं -"उनका संपर्क एवं संबंध देश-विदेश के साहित्य-मनीषियों से बना रहता था और परस्पर विचारों के आदान-प्रदान में रुचि एवं रस लेते रहते थे । एक ओर पारंपरिक साहित्य के प्रति वे जिज्ञासु थे तो दूसरी ओर साहित्य की नवीनतम गतिविधियों के प्रति उनमें उत्साह और आकर्षण था । प्रभाकर माचवे देश विदेश की साहित्यिक गतिविधियों का सूचना-संग्रह करते थे । वे एकसाथ विभिन्न क्षेत्रों के कई लेखकों और उनकी कृतियों की जानकारी दे सकते थे । डा. कैलाश चंद भाटिया अकादमी में माचवे के सेवाकाल का स्मरण यों करते हैं -"अकादमी में डा. माचवे तथा क्षेमचन्द्र सुमन से भेंट होती रहती थी । बाद में विद्यालय जीवन के अग्रज और गुरु भाई डा. भारत भूषण अग्रवाल भी जब अकादमी में आ गए तो अकादमी जाने का आकर्षण और बढ गया ।[1]

इसी बीच 1959 से लेकर 1961 तक की अवधि में अमरीका के विसकान्सिन तथा कालिफोर्निया विश्वविद्यालयों में वे अतिथि प्राध्यापक बने । 1963 में श्रीलंका के दो विश्वविद्यालयों में व्याख्यान हेतु गए थे । 1964 से लेकर 1966 तक वे संघ लोकसेवा आयोग के विशेष भाषाधिकारी रहे थे ।

---

1. डा. कैलाश चन्द्र भाटिया, लेख बहुभाषाविद् और साहित्यकार डा. प्रभाकर माचवे, भाषा त्रैमासिक, दिसंबर 1991.

सेवानिवृत्त की व्यस्तता

औपचारिक दृष्टि से सेवा निवृत्त होने के उपरांत भी प्रभाकर माचवे सेवारत रहे थे । दो वर्ष तक वे शिमला के उच्च अध्ययन संस्थान में रहे । इस संबंध में माचवे कहते हैं -"फरवरी 1976 से फरवरी 1978 तक मुझे उच्च अध्ययन संस्थान शिमला में शोधकार्य केलिए "फैलोशिप" मिली थी । मैं ने "हिन्दी और मराठी साहित्य में मार्क्स और गांधी" पर बहुत-सी सामग्री एकत्रित की । संस्थान ही 1978 में बन्द हो गया । सामग्री पडी है ।"[1] एक-एक महीने केलिए वे क.मुंशी हिन्दी तथा भाषाविज्ञान संस्थान आगरा तथा काश्मीर यूनिवर्सिटी श्रीनगर में विज़िटिंग प्रोफ़ेसर रहे । बाद में उन्होंने भारत की कुछ जगहों का दौरा किया था ।

भारतीय भाषा परिषद की सेवा

फरवरी 1979 से प्रभाकर माचवे स्वर्गीय श्री सीताराम सेक्सरिया के आग्रह पर भारतीय भाषा परिषद के निदेशक बनकर कलकत्ता चले गये ।[2] भारतीय भाषा परिषद शोध-संस्था और ट्रस्ट है । इसकी पांच मंजिल के इमारत में सभागार, सभाकक्ष, ग्रंथालय, अतिथि-निवास, साहित्य सूचना केन्द्र आदि के साथ-साथ कार्यालय व निदेशक निवास भी शामिल हैं । वहाँ हर महीने हिन्दी तथा अन्य भाषाओं के साहित्यिक कार्यक्रम, व्याख्यान, संगोष्ठियाँ होती हैं । वहाँ के सेवाकाल के प्रारंभिक तीन वर्षों में माचवे ने प्रेमचंद शताब्दी, उत्कल साहित्य गोष्ठी, पराडकर शताब्दी आदि का आयोजन किया । उनके सेवाकाल में सभी भारतीय भाषाओं के चुने हुए 100 श्रेष्ठ कवि

---

1. आशारानी व्होरा, मैं इन से मिली, (द्वितीय खंड), पृ.49.
2. वही, पृ.50.

की एक-एक कविता हिन्दी अनुवाद के साथ "शतदल" नाम से प्रकाशित किया गया । इसी प्रकार उन्होंने छह भारतीय भाषाओं के 6। उपन्यासों के कथासार संगृहीत करके "भारतीय उपन्यास कथाकार प्रथम खंड" प्रकाशित किया । संगोष्ठी में पढे गये प्रपत्र "गीता गोविंद", कन्नड से अनुदित पुरस्कृत कविता पुस्तक "वचनोद्यान", डा.धीरेन्द्र वर्मा की व्याख्यान माला तथा डा.उदयनारायण तिवारी के भाषणों का संग्रह "हिन्दी की भूमिका", हज़ारी प्रसाद व्याख्यान माला", "राधाकृष्ण कानोरिया लोकसाहित्य व्याख्यान माला, आदि का प्रकाशन कार्य भी इसी अवधि के दौरान माचवे ने किया । ट्रस्ट की ओर से प्रतिवर्ष ग्यारह-ग्यारह हज़ार रूपये के चार पुरस्कार बंगला, गुजराती, हिन्दी व एक दक्षिण भारतीय भाषा की किसी मौलिक पुस्तक को दिये जाते हैं । माचवे के सेवाकाल में हिन्दी त्रैमासिक पत्रिका, "संदर्भ भारती" तथा बंगला मासिक पत्रिका "परिषद समाचार" का भी प्रकाशन होता रहा था ।[1]

भारतीय भाषा परिषद को प्रभाकर माचवे ने भारतीय भाषाओं के सम्मिलन का केन्द्र बनाया । प्रादेशिक भाषाओं की प्रगति में विशेषकर उनके आपसी लेन-देन में परिषद का बडा योगदान रहा है ।

परिषद के सेवाकाल का स्मरण माचवे यों करते हैं - "इन साढे छह वर्षों के अनुभवों पर एक पूरी पुस्तक लिखी जानी चाहिए । कलकत्ता के गली-कूचों, पार्क-बागियों, मंदिर-मठों में आवारा की तरह घूमा हूँ । मुझे केवल इसी का आनंद है कि मैं जहाँ भी रहा, वहाँ मैं ने निंदा-स्तुति की परवाह नहीं की, और न आलोचना से विचलित हुआ । जो मुझे अच्छा लगा वही किया ।"[2]

---

1. आशारानी व्होरा, मैं इन से मिली (द्वितीय खंड), पृ. 50.
2. प्रभाकर माचवे का लेख - "कलकत्ता में साढे छः वर्ष" - परिषद समाचार, जुलाई-अगस्त-सितंबर 1991, पृ. 28.

डा.प्रभाकर माचवे 1985 में वृन्दावन शोध संस्थान के निदेशक नियुक्त हुए । उन्होंने 1988 तक वहीं सेवा की । इसी बीच 1986-87 में मौरीशस सरकार का निमंत्रण पाकर उन्होंने वहाँ की यात्रा की । 1988 से लेकर 1991 तक की अवधि को माचवे के सेवाकाल का अंतिम दौर कहा जा सकता है । 1988 में इन्दौर के "चौथा संसार" के प्रधान संपादक के रूप में वे नियुक्त हुए । इस प्रकार वे अपने अंतिम क्षणों में इंदौर वापस आए ।

प्रभाकर माचवे की मृत्यु

महात्माओं के संबंध में हमेशा ऐसा कहा जाता है कि वे अपनी मृत्यु के बारे में पहले ही जान लेते हैं । डा.प्रभाकर माचवे के संबंध में भी शायद यह सही है । इसके बारे में जगदीश चतुर्वेदी लिखते हैं -"प्रभाकर माचवे जीवन के अंतिम समय तक सक्रिय रहे । उनकी कवितायें तमाम पत्र-पत्रिकाओं में दिखाई देती रहीं । अभी कुछ समय पूर्व मैं ने उनकी एक कविता "धर्मयुग" में देखी थी, जिसमें कवि ने मृत्यु से साक्षात्कार का एक सार्थक बिंब उपस्थित किया था । लगता है कि मृत्यु पूर्व कवि की यह अपने प्रति भविष्यवाणी थी । कुछ समयपूर्व उनकी एक कविता और छपी थी । शीर्षक था - "अपने मन से" ।

"हुए प्रभाकर अब तुम सत्तर,
मियां दुकान उठा लो अपनी
और समेटो कागज़ पत्तर ।"[1]

7 जून 1991 को इंदौर में डा.प्रभाकर माचवे दिल का दौरा पडने से स्वर्गवासी हो गए । "माचवे जी की मौत से एक ऐसा युग समाप्त हो गया जिसमें विद्यानुर जीवन की सबसे बडी उपलब्धि मानी जाती थी ।"[2]

---

1. जगदीश चतुर्वेदी, भाषा त्रैमासिक दिसंबर 1991, लेख: प्रभाकर माचवे कवि चिंतक और अध्येता, पृ. 16.
2. महावीर अधिकारी से, "माचवे के निधन से साहित्यिक जगत रीता" शीर्षक लेख में उद्धृत, नवभारत टाइम्स, 15 जून 1991.

बहुभाषाविद

प्रभाकर माचवे अपनी बहुभाषा विदता केलिए प्रसिद्ध है । वे मराठी भाषी है, फिर भी अनेक भाषाओं का सम्यक ज्ञान रखते थे । उनके निधन पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन में पारित शोक प्रस्ताव में कहा गया है - "डा.प्रभाकर माचवे हिन्दी के बहुभाषाविद सुलेखक, संपादक और कोशकार के रूप में बहुचर्चित एवं बहुप्रशंसित रहे हैं । मराठी भाषी डा.माचवे ने हिन्दी की समृद्धि केलिए जो योगदान किया है उसके कारण वे सदैव याद किए जायेंगे।"[1] यूँ तो उन्होंने अधिकतर लेखन हिन्दी में ही किया किन्तु मराठी और अंग्रेज़ी में भी उन्होंने लिखा हैं । कई भाषायें सीखना भी उनका व्यसन था । वे बंगला, तमिल, फ्रेंच और रूसी भाषाओं के भी ज्ञाता थे ।"[2] भाषा सीखने में उनकी बडी रुचि थी । "किसी चीज़ को सीखने की शक्ति और साहस उनमें अतुल्य हैं । मराठी मातृभाषा है, बंगाली कॉलिज में सीखी, उर्दू सेवाग्राम में, सन् 1948 में कटक में उड़िया, रोडियो में पंजाबी, अहमदाबाद में गुजराती, कुछ दिन डा.शारलोत काउजे से जर्मन, राहुल जी से रूसी और स्वयं शिक्षकों से फ्रेंच और तमिल सीखने का यत्न उनकी बहुभाषाविदत्ता को प्रकट करता है ।"[3]

गतिशील विश्वकोष

"डा.प्रभाकर माचवे को "चलते-फिरते विश्वकोश"की संज्ञा अनेक विद्वानों ने दी है, क्योंकि उनको विभिन्न भाषाओं का ज्ञान, उनके साहित्य का ज्ञान, संस्कृति, इतिहास से जुडी परंपराओं का ज्ञान था ।

भारतीय भाषाओं के नए-पुराने साहित्य का जितना ज्ञान उन्हें था उतना शायद अन्य किसी को नहीं । अकादमी भारत वर्ष का सूक्ष्म रूप में

---

1. राष्ट्रभाषा संदेह में 15 अगस्त 1991 को प्रकाशित ।
2. जगदीश चतुर्वेदी, लेख:प्रभाकर माचवे कवि, चिंतक और अध्येता, भाषा त्रैमासिक, दिसंबर 1991, पृ. 13.
3. वही

प्रतिनिधित्व करती है जिसमें डा.माचवे सहज भाव से बोलते हुए परिवीक्षाधीन अधिकारियों की जिज्ञासा को शांत करते रहते थे । भारतीय साहित्य-दर्शन के साथ विदेशी साहित्य के बहुपठित विद्वान डा.माचवे औपचारिक भाषणों के अतिरिक्त अनौपचारिक रूप से विविध विषयों पर उनसे चर्चा करते रहते थे ।"[1]
श्रीमती आशारानी व्होरा लिखती हैं -"देश विदेश का ज्ञान, विभिन्न भाषाओं का ज्ञान, उनके साहित्य का ज्ञान, संस्कृति, इतिहास, परंपराओं का ज्ञान और विविध सामान्य ज्ञान यानी ज्ञान की जिन ऊँचाइयों को मैं ने हमेशा एक ललक के साथ देखा है, जिनका अभाव मैं अपने भीतर हमेशा महसूसती रही हूँ, डा.माचवे हर बार मुझे ज्ञान की उसी ऊँचाई पर खडे मिले - जानकारियों के अंबार सरीखे । ऐसे अंबार कि उनकी साहित्यिक उपलब्धियाँ तक उसके नीचे दब कर रह गई लगती हैं ।"[2]

संक्षेप में, यह कथन सही है कि "वे ज्ञान के एक ऐसे कोष थे जो कभी भी रिक्त नहीं होता । ऐसे मनीषी सदियों में पैदा होते हैं ।"[3]

वक्ता माचवे

एक वक्ता के रूप में प्रभाकर माचवे की संप्रेषण-क्षमता अद्भुत थी । मराठी हिन्दी और अंग्रेज़ी में अनायास घंटों बोलने की क्षमता

1. डा.कैलाशचन्द्र भाटिया, लेख: बहुभाषाविद् और साहित्यकार डा.प्रभाकर माचवे, भाषा त्रैमासिक, दिसंबर 1991.
2. आशारानी व्होरा, मैं इनसे मिली (द्वितीय खंड) लेख चलते फिरते विश्वकोश, प्रभाकर माचवे, पृ.47.
3. जगदीश चतुर्वेदी का लेख - प्रभाकर माचवे कवि, चिंतक और अध्येता, भाषा त्रैमासिक, दिसंबर 1991, पृ.12.

उनमें थी । "अंग्रेज़ी-हिन्दी में धाराप्रवाह भाषण, वह भी घंटों और किसी भी विषय पर देने में वह सक्षम थे ।"[1] उनकी वाक्पटुता के बारे में श्री जगदीश चतुर्वेदी का कहना है -"1946 के वे दिन मुझे भूले नहीं है, जब उज्जैन की विभिन्न साहित्यिक गोष्ठियों में डा.प्रभाकर माचवे से मुलाकात होती थी और उनके संयत और गुरु गंभीर वक्तव्यों से मैं प्रभावित होता था । मुक्तिबोध ज़्यादातर चुप रहते थे और माचवे जी उतना ही अधिक बोलने में प्रवीण थे । यों माचवे जी की वह वाक्पटुता जीवन भर अक्षुण्ण रही । किसी भी विषय पर धाराप्रवाह बोलने की अदम्य क्षमता प्रभाकर माचवे में थी और उनको हम सब साहित्यकार "जिंदा विश्वकोश" कहा करते थे । वे किसी भी विषय पर बोल सकते थे, लिख सकते थे और बहस कर सकते थे ।"[2] अपने व्यस्त जीवन में भी वे साहित्य गोष्ठियों में लगातार भाग लेते रहे । "विभिन्न साहित्यिक गोष्ठियों में उनकी वक्तृत्व कला प्रभावपूर्ण होती थी ।"[3]

विनोदप्रियता

प्रभाकर माचवे हमेशा खुश नज़र आते थे । किसी भी प्रकार के उलझन या संकट के क्षणों में भी उनके चेहरे पर चिंता की रेखाएँ खिंच नहीं जाती थीं । माचवे इस बात का प्रमाण हैं कि गंभीर चिंतक भी विनोदप्रिय हो सकता है । डा.कैलाश चन्द्र भाटिया लिखते हैं -"डा.माचवे का व्यक्तित्व वास्तव में निराला था । हल्की-चुटकियाँ लेते हुए उनके अट्टहास कौन भुला सकता है । वह अकेले ऐसे साहित्यकार थे जो लेखक की अनेक विधाओं से सक्रिय रूप से जुड़े रहे साथ ही प्रदेशों की कला-संस्कृति से भी । कलाकार होने के नाते

---

1. डा.कैलाशचन्द्र भाटिया, लेख बहुभाषाविद् और साहित्यकार डा.प्रभाकर माचवे, भाषा, दिसंबर 1991.
2. जगदीश चतुर्वेदी, लेख: प्रभाकर माचवे कवि, चिंतक और अध्येता, भाषा दिसंबर 1991, पृ.12.
3. वही, पृ.13.

उनका क्षेत्र व्यापक रहा ।"[1] श्री जगदीश चतुर्वेदी भी स्वीकार करते हैं कि "उनके बहुभाषाविद् एवं सुधी विचारक रूप से परिचित रहा हूँ और उनके अलमस्त, फक्कड और मिलनसार स्वभाव का कायल रहा हूँ ।"[2] माचवे के मनमौजी व्यक्तित्व का प्रभाव उनकी रचनाओं पर भी पडा है । "वह एक" कविता इसका अच्छा उदाहरण है -

"मैला-सा" कुर्ता पहने बेच रहा अखबार,
अरजुन, स्वराज, जन्मभूमि, आज, अधिकार,
दो पैसे या कि चार-चार ।
× × × × ×
उसको न परवाह कॉंगरेज नैया की पतवार
दाम्पक्ष पै है या हराम पक्ष पै है,
वह जानता है माहवार,
तनखा साढे तीन कल्दार ।"[3]

सादा जीवन - उच्च विचार

महात्मागांधी के संदर्भ में कहा जाता है कि उनका जीवन "सादा जीवन उच्च विचार" पर आधृत था । उनके प्रभाव में आकर माचवे ने भी उस आदर्श को स्वीकार किया । गांधीजी के साथ संपर्क में आते ही

---

1. डा. कैलाश चन्द्र भाटिया, लेख बहुभाषाविद् और साहित्यकार, डा. प्रभाकर माचवे, भाषा, दिसंबर 1991.
2. जगदीश चतुर्वेदी, लेख प्रभाकर माचवे कवि, चिंतक और अध्येता, भाषा, त्रैमासिक, दिसंबर 1991, पृ. 12.
3. वही, पृ. 14.

उन्होंने अंग्रेज़ी पोशाक छोड दी और वे खद्दर पहनने लगे ।[1] "माचवे जी कहा करते थे कि उनके विवाह में नौ आने खर्च हुए थे और हाथ से कते सूत की साड़ी कस्तूरबा गांधी ने वधू को भेंट में दी थी । गांधीजी ने स्वयं अपने हाथ से 108 तार कातकर माचवे जी के गले में पहनाए । शरद पारनेरकर, महात्माजी और कस्तूरबा जी की पुत्री की तरह वहीं आश्रम में रहती थीं ।"[2] श्री जगदीश नारायण वोरा के इन शब्दों में माचवे की सादगी का स्पष्ट चित्र मिलता है - "नई दिल्ली कन्नाट प्लेस में यार्क होटल के ऊपर 22 नं. के दो कमरों के सरकारी फ्लैट में वे रहते हैं । उनका निवास स्थान उनके पद के अनुरूप नहीं है, बल्कि जैसा उनका सीधा-सादा खादी का लिबास है, उसी तरह बाह्याडम्बरों से शून्य एक कलाकार, लेखक, साहित्यप्रेमी मध्यमवर्गीय मराठी परिवार का वह आवास है ।"[3] इस प्रकार उच्च स्थानों पर रहकर भी माचवे का जीवन पूर्ण रूप से साधारण था ।

प्रभाकर माचवे का सर्जनात्मक व्यक्तित्व

प्रभाकर माचवे एक बहुआयामी रचनाकार हैं । कविता, कहानी, उपन्यास, एकांकी, निबंध, यात्रा-वर्णन, समीक्षा आदि के साथ-साथ माचवे धर्म और दर्शन तथा राजनीतिक विषयों पर भी लिखते रहे हैं ।[4]

---

1. जगदीश चतुर्वेदी का लेख, "प्रभाकर माचवे कवि, चिंतक और अध्येता", भाषा त्रैमासिक, दिसंबर 1991, पृ. 12.
2. वही
3. श्री जगदीश नारायण वोरा का लेख, प्रभाकर माचवे एक बहुरंगी व्यक्तित्व अक्षर अर्पण, पृ. 18.
4. जगदीश चतुर्वेदी का लेख, प्रभाकर माचवे कवि, चिंतक और अध्येता, भाषा त्रैमासिक, दिसंबर 1991, पृ. 13.

उनकी प्रथम हिन्दी कविता 1934 में कर्मवीर में प्रकाशित हुई थी । उसी वर्ष उनकी प्रथम मराठी कविता "काव्य रत्नावली" में प्रकाशित हुई । प्रेमचंद ने उनकी पहली कहानी "हँस" में छापी माचवे के अनुसार उनका पहला लेख "कला में मनोविज्ञान" शीर्षक से "सुधा" में निराला ने प्रकाशित किया । प्राय: उसी समय महादेवी ने माचवे की एक कहानी "चांद" में प्रकाशित की उनका प्रथम संपादित ग्रंथ "जैनेन्द्र के विचार" 1937 में प्रकाशित हुआ । "परंतु" नामक उनका प्रथम उपन्यास 1951 में प्रकाशित किया गया ।

चित्रकार माचवे

प्रभाकर माचवे का सर्वाधिक परिचय कवि के रूप में ही हुआ है । लेकिन माचवे खुद कहते हैं -"मूलत: मैं एक चित्रकार हूँ जो हल्के रंगों में दृश्यांकन भी करता है {कविताएँ साक्षी हैं, शब्दों में} गहरे शोख रंगों के पोस्टर भी बनाता हूँ {मेरी आलोचनाएँ साक्षी हैं} व्यंग्य चित्र भी बनाता हूँ {मेरे अनेक निबन्ध साक्षी हैं} शबीहें या पोट्रेट्स भी बनाता हूँ {मेरे अनेक संस्मरण और रेखाचित्र छपे हैं} ; और अब मैं धीरे-धीरे शुद्ध, एब्स्ट्रेक्ट चित्रकला की ओर मुड रहा हूँ {जो "में कुछ स्थल या "सांचा" के अंत में ज्वाइस- जैसे प्रयोग साक्षी हैं} - हो सकता है कि मेरी अगली कृतियाँ और भी दुर्बोध और ऐब्सर्ड हो ।"[2] उन्होंने चित्रकला की ट्रेनिंग इंदौर स्कूल ऑफ आर्ट में गुरु देवलालीकर से ली थी ।"[3] वे कुशलता से किसी भी व्यक्ति का रूप चित्र खींच सकते थे । उनकी इस क्षमता का परिचय उनकी रचनाओं से प्राप्त होता है । वैसे वे एक रेखा चित्रकार भी हैं ।

---

1. डा.कैलाश चन्द्र भाटिया का लेख -"बहुभाषाविद् और साहित्यकार डा.प्रभ माचवे, भाषा त्रैमासिक, दिसंबर 1991.
2. डा.रणवीर रांग्रा, सृजन की मनोभूमि, पृ. 168.
3. डा.कैलाश चन्द्र भाटिया का लेख, बहुभाषाविद् और साहित्यकार डा.प्रभाकर माचवे, भाषा त्रैमासिक, दिसंबर 1991.

माचवे जी के रेखाचित्र

प्रभाकर माचवे का पहला रेखाचित्र "दानिश" शीर्षक से सन् 1933 में प्रकाशित हुआ जिनका संशोधन भी यशस्वी रेखाचित्रकार रामवृक्ष बेनीपुरी द्वारा किया गया । नीत्शे पर जो रेखाचित्र लिखा गया वह 1935 में "माधुरी" में प्रकाशित हुआ । जैनेन्द्र पर जो रेखाचित्र लिखा गया उसका प्रकाशन "हँस" तथा बाद में "जीवन सुधा" में हुआ । कैलाश चन्द्र भाटिया लिखते हैं -"सन् 1938 में प्रकाशित "हंस" के रेखाचित्र विशेषांक में अज्ञेय पर पठनीय शब्दचित्र "अज्ञेय जितने कि वे मुझे ज्ञेय हुए" शीर्षक से प्रकाशित हुआ जिसका एक अंश उद्धृत करना चाहता हूँ : "वात्स्यायन और अज्ञेय ऊपर जो दो नाम बताए वे एक ही आदमी के हैं - एक खासे मोटे, ताजे, कुछ पंजाबी गठन के, सौम्य भव्य चेहरे के भले आदमी के हो ये दो नाम हैं जो सचमुच स्वभाव से "आग्नेय" है और अज्ञेय भी ।

अंग्रेज़ी स्पेलिंग के ही दूसरे पठनीय रूप "आग्नेय" को निकालकर जो चमत्कार माचवे जी ने प्रस्तुत किया वह विलक्षण है । इस प्रकार शब्दों से कलाबाजी करना और दिखाना उनके स्वभाव में अंत तक रहा । उनके अन्य रेखा-चित्रों में मुक्तिबोध, "मामा वरेरकर", "शुक्लजी" उल्लेखनीय है ।"[1]

"शब्द-रेखा" माचवे के तूलिका-चित्रों {रेखाचित्रों} का संग्रह है । रेखांकन के साथ व्यक्तियों का संक्षिप्त परिचय भी इसमें हैं । संभवत: इस विधा की यह पहली पुस्तक है । वे प्राय: फाउन्टेन पेन से या डॉट पेन

---

1. डा.कैलाश चन्द्र भाटिया का लेख, "बहुभाषाविद् और साहित्यकार डा.प्रभाकर माचवे", भाषा, त्रैमासिक, दिसंबर 1991.

से चेहरे बनाने में सिद्धहस्त थे । जिन साहित्यकारों के रेखाचित्र इस शब्द रेखा में समाहित हैं उनमें सागर निज़ामी, सुन्दरम उमाशंकर जोशी, डा.एस.राधाकृष्णन आदि के नाम स्मरणीय हैं । निराला का दिनांक 12.10.58 का स्केच विशेष उल्लेखनीय है जबकि वह मानसिक रूप से अस्वस्थ थे । सुप्रसिद्ध साहित्यकार व चित्रकार डा.जगदीश गुप्त के अनुसार "माचवे जी का शब्दबोध दोनों इसमें परस्पर स्पर्धी होकर समाहित है ।[1] रेखाचित्र विधा तथा रिपोर्ताज विधा में काफी समानताएँ हैं । माचवे ने रिपोर्ताज कम लिखा है फिर भी उन्हें इस विधा का सम्यक ज्ञान था । रिपोर्ताज विधा के मूर्धन्य विद्वान कन्हैयालाल मिश्र "प्रभाकर" के रिपोर्ताजों पर माचवे ने लिखा है - "रिपोर्ताज लिखने के लिए केवल पैनी निरीक्षण शक्ति ही नहीं, जो कुछ हम देखते-सुनते, अनुभव करते हैं, उनमें से चुनने की क्षमता, स्मृति के सहारे उसे सहेजने की अवधारणा और अवधान-बुद्धि और पुनः कागज़ पर उतारने उकेरने रेखाओं-रंगों में चित्रित करके पुनर्निमित करने की असाधारण प्रतिभा और विषय - अनुकूल भाषा शैली और शब्द चयन का उत्तम अधिकार एक साथ चाहिए । वह सब गुण "प्रभाकर" जी की ऐसी रचनाओं में हैं ।"[2] इस प्रकार माचवे ने चित्रकला के साथ साहित्य का ऐसा सम्मेलन किया है जो कि अन्यत्र दुर्लभ होता है ।

कवि माचवे

कवि के रूप में माचवेजी का सर्जनात्मक व्यक्तित्व उज्वल है । 1934 से लेकर (तब वे 17 वर्ष के थे) उनकी कविताएँ प्रकाशित होने लगी थी । "कवि रूप में उनकी मान्यता "तार सप्तक" में प्रवेश के साथ हो गयी थी

---

1. डा.कैलाश चन्द्र भाटिया का लेख, बहुभाषाविद् और साहित्यकार डा.प्रभाकर माचवे, भाषा, त्रैमासिक, दिसंबर 1991.
2. वही
3. वही

अन्य विधाओं में भी वे लगातार लिखते रहे । फिर भी "वे अन्य विधाओं की अपेक्षा कवि रूप में अधिक प्रसिद्ध हुए है ।"[1]

बचपन से लेकर प्रभाकर माचवे कविता में बड़ी रुचि रखते थे । "सन् 1938 में अज्ञेय ने जब उनकी दो इम्प्रेसनिस्ट कवितायें "विशाल भारत" में प्रकाशित कीं, तो वे विद्वानों के बीच चर्चा का विषय बनी रहीं । हो सकता है कि अज्ञेय से उनकी मित्रता का कारण भी यही कविताएँ रही हों ।"[2] माचवे खुद मानते हैं कि "हिन्दी की आधुनिक कविता उनकी "दो इंप्रेशनिस्ट कविताएँ" से ही शुरू हुई ।"[3]

अज्ञेय द्वारा संपादित "तारसप्तक" में माचवे की 23 कविताएँ प्रकाशित हैं । 1943 में प्रकाशित इस काव्य संग्रह को आधुनिक कविता, विशेषकर प्रयोगवादी कविता का परामर्श ग्रंथ माना जाता है । 1970 में "तारसप्तक" का परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित किया गया उसमें वक्तव्य के साथ माचवे की अन्य तीन कवितायें भी प्रकाशित हुई हैं ।

माचवे का प्रथम निजी काव्य संकलन हैं "स्वप्न भंग" । 1935 से 1955 के मध्य लिखित 66 कविताएँ इस संकलन में प्रकाशित की गयी हैं

---

1. जगदीश चतुर्वेदी का लेख प्रभाकर माचवे कवि, चिंतक और अध्येता, भाषा त्रैमासिक, दिसंबर 1991, पृ. 13.
2. वही
3. विष्णु खरे का लेख भारतीय साहित्यों का सेतु, नवभारत टाइम्स, बंबई, 23 जून 1991, पृ. 6.

1955 में प्रकाशित इस संकलन में एक सौ सॉनेट संगृहीत हैं । इस समय तक सॉनेट का प्रचलन नहीं हुआ था । "अनुक्षण" काव्य संकलन का प्रकाशन 1958 में हुआ । 65 कविताओं के इस संकलन में गीत, षट्पदी, छोटी कविताएँ, लंबी कविताएँ, सॉनेट, गीति-रूपक आदि प्रकार की कविताएँ आ गयी हैं । माचवे के तीसरा निजी काव्य संकलन "मेपल" 1963 में प्रकाशित हुआ । इसमें विदेशों में लिखी गयी सन् 1950 से 1963 तक की 64 कविताएँ संगृहीत हैं । चरपराहट पूर्ण भाषा में लिखी गयी 33 कविताओं का संग्रह "तेल की पकौडियाँ" 1963 में प्रकाशित हुआ । माचवे के खंडकाव्य विश्वकर्मा का प्रकाशन 1988 में हुआ । इसके माध्यम से मिथकीय तत्वों के आधार पर आधुनिक युग की भीषण यांत्रिकता को अभिव्यक्त किया गया है ।

प्रभाकर माचवे ने अपनी कविताओं के माध्यम से जीवन की समीक्षा की है । उन्होंने "सामाजिक यथार्थ एवं परिवेशगत मूल्यों की व्यंजना केलिए हास्य तथा व्यंग्य का सम्मिश्रण रूप अपनाया है । अगंभीर ढंग से गहनतम बातों को कहने की प्रवृत्ति समाज और व्यक्ति के मन की विकृतियों पर अर्थपूर्ण, पैना और सीधा आघात करनेवाला अस्त्र है जिसे माचवे जी ने जानबूझ कर अपनाया है ।"[1] माचवे में शुरू से ही एक सचेष्ट व्यंग्यकार की आंख विकसित रही है, उन्होंने तो गद्य में कई श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएँ भी लिखा हैं । "निम्न मध्यवर्ग" नामक उनकी कविता {तारसप्तक} की निम्न लिखित पंक्तियाँ भारतीय निम्न मध्यवर्ग की स्थिति का जीवंत चित्रण है -

"तौन-तेल लकडी की फिक्र में लगे धुन-से,
मकडी के जाले-से, कोल्हू के बैल-से ।

---

1. डा. विजय वधवा, स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य के संवर्धन में महाराष्ट्र की भूमिका, पृ. 130.

मकां नहीं रहने को, फिर भी ये धुन से,
गंदे अंधियारे और बदबू-भरे दड़बों -
में जानते हैं बच्चे ।"[1]

माचवे ने "आत्मविश्वास रहित अवसरवादियों, आजकल के "असहज मनोवृत्तियों" तथा बाज़ारू सभ्यता पर व्यंग्य बाण छोडे हैं । "आज की "बाज़ारू सभ्यता" में सब कुछ विज्ञापित हैं और पैसे से सब कुछ मिलता है । यहाँ अमूल्य वस्तुएँ भी बेची जाती हैं मसलन सतीत्व, प्रामाणिकता और वोटर संख्या । खुदा नीलाम चढता है और आत्मा की फोटू खींची जाती हैं । अन्तर्राष्ट्रीय गुड़िया प्रदर्शनी देखकर आज के मानव की असहजता एवं कृत्रिमता का अहसास बढ जाता है । यही कृत्रिमता मानव की हिंस्र मनोवृत्ति में दिखायी देती है ।"[2]

प्रभाकर माचवे ने सामयिक घटनाओं को भी अछूता नहीं छोडा है । प्रमुख समसामयिक घटनाओं को उन्होंने शब्दबद्ध किया है । उनकी कविताओं में राष्ट्रीय चेतना का भी उभार हुआ है - "डा.प्रभाकर माचवे ने राष्ट्रीय संदर्भों में अनेक कविताएँ लिखी हैं । गोआ-मुक्ति पर लिखी उनकी कविता हैदराबाद की मुक्ति पर लिखी गयी "विजयादशमी 1948" स्वतंत्रता दिवस पर लिखा "आल्हा" राष्ट्रीय चेतना की दृष्टि से महत्वपूर्ण कवितायें हैं । "दीवाली 1948" में गांधीजी की मृत्यु के कारण हृदय के अवसाद की अभिव्यक्ति हुई है । "झंझा और वृक्ष" कविता में राष्ट्रवृक्ष की कल्पना की गयी है ।"[3] माचवे ने प्रकृति वर्णन के संदर्भ में नदियों, समुद्रतटों तथा बादलों

---

1. जगदीश चतुर्वेदी का लेख, प्रभाकर माचवे कवि, चिंतक और अध्येता" भाषा त्रैमासिक, दिसंबर 1991, पृ. 15.
2. डा. विजय वधवा, स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य के संवर्धन में महाराष्ट्र की भूमिका, पृ. 130.
3. वही, पृ. 132.

को प्रमुखता दी है । श्रद्धांजलिपरक कविताओं में "मार्क्स और गांधी", "रोम्याँ रोला के प्रति", "गांधी और रवीन्द्रनाथ", निराला की स्वर्ण जयंती पर", "मानवेंद्र राय के प्रति", "आइन्स्टाइ के प्रति" आदि उल्लेखनीय है । माचवे ने ऋतुओं, त्योहारों, स्थानों, जयंतियों तथा पर्वों पर भी कवितायें लिखी हैं ।

माचवे के संदर्भ में निस्संदेह कहा जा सकता है कि वे एक प्रतिबद्ध कवि थे । समसामयिक सामाजिक गतिविधियों का सजीव स्पंदन उनकी रचनाओं में महसूस होता है ।

उपन्यासकार माचवे

यद्यपि यह शोध प्रबंध माचवे के उपन्यासों का अध्ययन है, फिर भी सर्जनात्मक व्यक्तित्व की चर्चा के संदर्भ में उनके उपन्यासकार रूप का उल्लेख करना अनिवार्य है ।

माचवे ने 16 उपन्यासों की रचना की है । उनका प्रत्येक उपन्यास किसी-न-किसी प्रकार की विशेषता से युक्त होता है । वे एक प्रयोगकर्मी उपन्यासकार हैं । इस दृष्टि से वे एक प्रयोगकार, अपना सर्जनात्मक व्यक्तित्व एक प्रयोगशाला तथा उनकी रचनाएँ नए नए आविष्कार हैं ।

डा. माचवे ने युगीन परिवेश से संबद्ध विभिन्न ज्वलंत समस्याओं को अपने उपन्यासों के माध्यम से उभारा है । वे एक चिंतक

उपन्यासकार हैं । उनके समस्त उपन्यास प्रश्नों एवं जिज्ञासाओं का साहित्य है ।[1] शाश्वत मूल्यों और वर्तमान संदर्भों की टकराहट से निकलते प्रश्न-चिह्नों को माचवे अपने विभिन्न उपन्यासों में रेखांकित करता गया है ।[2]

माचवे गांधीजी के सिद्धांतों का बडा समर्थक हैं । सामाजिक तथा वैयक्तिक समस्या-विश्लेषण के संदर्भ गांधीवाद उनकी कसौटी रही है । माचवे ने यद्यपि अनेक समस्याओं की चर्चा अपने उपन्यासों में की है, फिर भी उनका समाधान उन्होंने प्रस्तुत नहीं किया है, प्रत्युत प्रश्नों को पाठक के सामने रखा गया है -"कौन बार-बार मनुष्य को पशु बनाता है ? कौन बार-बार उसमें देवता की याद दिलाता है ? क्या सन्-संवत् आँकडे बेमानी हैं ? 30,40,50 की तरह क्या यह कहानी 60,70,80 होते-होते शताब्दी के अंत तक पहुँचेगी ? या कहीं-न-कहीं इस शृंखला का अन्त होना ही होगा ? ये शून्य समाप्त होंगे ? उनमें से पूर्ण जागेगा या फिर अनेक शून्य मिलकर एक बडा वर्तुल बनेगा ?"[3]

प्रभाकर माचवे के उपन्यासों का "कैनवास" बडा विस्तृत है । समाज तथा व्यक्ति, विशेषकर नारी से जुडी हुई समस्याओं का मार्मिक चित्रण उस "कैनवास" पर हुआ है । माचवे के उपन्यासों की विस्तृत चर्चा इस प्रबंध में की गयी है ।

---

1. डा. विजय वधवा, हिन्दी साहित्य के संवर्धन में महाराष्ट्र की भूमिका पृ. 58.
2. वही, पृ. 59.
3. प्रभाकर माचवे, तीस-चालीस-पचास

कहानीकार माचवे

"संगीनों का साया" प्रभाकर माचवे का कहानी संग्रह है । इसका प्रकाशन 1942 में हुआ था । इसमें संग्रहीत कहानियों में उनके फासिस्ट विरोधी दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति हुई है । मज़दूरों तथा अन्य शोषित-पीडित वर्गों को केन्द्र बनाकर ही माचवे ने अपनी कहानियों की रचना की है । अत: वे यथार्थवादी कहानियाँ हैं । माचवे की "बैंड मास्टर" कहानी के बारे में डा. विजय वधवा कहते हैं -"इस कहानी के संक्षिप्त परिवेश में मानवीय संवेदना मुखर हुई है । गरीब होने से मानवीय आकांक्षायें समाप्त नहीं होती, चाहे उन्हें दबा दिया जाये या छिपा लिया जाये ।..... उर्दू के शब्दों से घुली मिली हिन्दी भाषा में मुसलमान बैण्डमास्टर की ज़िन्दगी का वातावरण बहुत सफलता से उभरता है । आशाएँ हैं, आकांक्षाएँ हैं, परंतु कोई राह न होने की विवशता के कारण बैण्डमास्टर अपने वाद्ययन्त्रवादन-कौशल में ही जीवन की सार्थकता खोजता है । इस कहानी का सौन्दर्य अभिव्यक्ति की सहजता है ।"[1]

एकांकीकार माचवे

प्रभाकर माचवे का प्रथम एकांकी संग्रह "गली के मोड पर" 1960 में प्रकाशित हुआ । इसमें सात प्रहसन संकलित हैं । वे हैं - "वधू चाहिए", "अभियोग", अब्रा का डब्रा", "अधकचरे", "पागलखाने में", "राम आज की दुनिया में" तथा "गली के मोड पर" । 1962 में प्रकाशित "तेल की पकौडियों में" "उलटफेर" एकांकी भी संग्रहीत है ।

---

1. डा. विजय वधवा, स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य के संवर्धन में महाराष्ट्र की भूमिका, पृ. 119.

माचवे के एकांकियों की एक बडी विशेषता यह है कि उन्होंने निर्जीव वस्तुओं को भी पात्रों के रूप में अपनाया है । मनुष्य की निर्मम प्रकृति को उभारने के लिए "गली के मोड पर" के दीवार और पोस्टर के बीच के संवाद ही काफी है ।

समीक्षक माचवे

समीक्षा के क्षेत्र में भी प्रभाकर माचवे ने अपनी सफलता का परिचय दिया है । "नाट्य-चर्चा" उनका समीक्षा ग्रंथ है जिसका प्रकाशन 1951 में किया गया था । उनके छह समीक्षा ग्रंथ 1952 में प्रकाशित हुए, वे हैं -"हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियाँ", "हिन्दी पद्य की प्रवृत्तियाँ", "हिन्दी निबंध" "व्यक्ति और वाङ्मय", "समीक्षा की समीक्षा" तथा "मराठी और उसका साहित्य" । उनके तीन समीक्षा ग्रंथ 1954 में निकले - "हिन्दी साहित्य की कहानी", "संतुलन"और "कबीर" । 1958 में "केशवसुत", 1969 में "भारत और एशिया का साहित्य", 1980 में "राहुल सांकृत्यायन" तथा 1981 में "हिन्दी ही क्यों तथा अन्य निबंध" प्रकाशित हुए । 1987 में निकले दो ग्रंथ हैं - "मैथिलीशरण गुप्त"और बालकृष्ण शर्मा "नवीन" ।

प्रभाकर माचवे तटस्थ तथा मार्मिक आलोचक थे । आलोचना में वे काफी कठोर थे । आलोचना चाहे समाज की हो चाहे कोई साहित्यिक विधा की वे इसी ढंग के थे । समाज-समीक्षा की बात तो जग-जाहिर है । उनकी सारी मौलिक रचनायें इस बात की गवाह हैं । साहित्यिक समीक्षा के

संबंध में वे खुद कहते हैं - "चूँकि सबकी मुँहफट आलोचना करता हूँ इसलिए आलोचक विद्वानों की पंक्ति से जात-बाहर हूँ ।"[1]

प्रभाकर माचवे सफल समीक्षक रहे हैं । उनकी आलोचना पैनी होकर भी अहिंसात्मक है । वह लेखकों को अपनी सृजनात्मक भूमि में गतिशील और विकासोन्मुख बना देती है ।

अनुवादक माचवे

प्रभाकर माचवे एक प्रख्यात तथा कुशल अनुवादक हैं । अनुवाद कार्य का शुभारंभ उन्होंने गांधीजी के आदेश से किया था । इस प्रकार "क्या हम भूखों मरें ?" 1944 में प्रकाशित हुआ । उसके बाद माचवे लगातार अनुदित ग्रंथों का प्रकाश करते रहे हैं । उनके अन्य अनुदित ग्रंथ हैं - "उल्का" (1950), "शांति केलिए अणु" (1956), बौद्ध धर्म के 2500 वर्ष"(1956), "भग्न मूर्ति" (1958), "आज का भारतीय साहित्य"(1958), "लद्दाख की छाया में" (1966), "सात युगोस्लाव कहानियाँ"(1958), "खुली नौका और अन्य कहानियाँ" (1960), "पुण्यकोटि गौ की कहानी"(1959) "टालस्टाय और भारत"(1969), "अवलोकिता" (1971), "नामदेव"(1970), "रानडे"(1971), "ब्राह्मण कन्या"(1971), "अस्तित्ववाद"(1974), "सहयात्रा और लिक्स" (1987), "आज़ादी"(1988) आदि ।

मराठी, हिन्दी, संस्कृत तथा अंग्रेज़ी के अच्छे ज्ञान के कारण

---

1. डा. रणवीर रांग्रा, सृजन की मनोभूमि, पृ. 165.

उनके अनुवाद बडे सफल हुए हैं । वे एक बहुभाषाविद् हैं । उनकी एक चर्चित पुस्तक हैं -"सीखिए, पढिए 15 भाषायें" ।

"डा. माचवे ने न केवल मराठी में मूलत: लिखा और अनुवाद किया वरन् मराठी से हिन्दी में पर्याप्त अनुवाद भी किया । हिन्दी से मराठी में भी अनुवाद किया, जैसे चिदंबरा {सुमित्रानंदन पंत की कविताओं का मराठी में अनुवाद} भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हुई । तमिल संगम ने "सुब्रह्मण्य भारतीच्या कविता" शीर्षक से भारती के कविताओं का मराठी अनुवाद प्रकाशित किया । नेशनल बुक ट्रस्ट केलिए "हिन्दी कथा" तथा "पंजाबी कथा" मराठी में अनुवादित कीं ।"[1]

अनुवाद के संबंध में माचवे का स्पष्ट विचार था कि "अनुवाद का काम हिन्दी साहित्य को समृद्ध बनाने का एक महत्वपूर्ण उपाय है । संसार की सभी समुन्नत भाषायें प्रचुर अनुवाद करती हैं । हिन्दी अब अपने में सिमटी नहीं रह सकती ।"[2] उनकी दृष्टि में "इस विषयांतर का आशय इतना ही है कि हिन्दी को अभी अन्य भारतीय भाषाओं से बहुत कुछ सीखना, जानना, अपनाना, स्वीकार करना और विनयपूर्वक ग्रहण करना है ।"[3]

---

1. डा. कैलाशचन्द्र भाटिया का लेख, बहुभाषाविद् और साहित्यकार डा. प्रभाकर माचवे, भाषा, दिसंबर 1991.
2. डा. प्रभाकर माचवे, भारत और एशिया का साहित्य, राष्ट्रभाषा हिन्दी समृद्ध कैसे हो, शीर्षक से, पृ. 170.
3. वही, भूमिका से, पृ. 7.

संपादक माचवे

संपादक के रूप में माचवे की सफलता का परिचय दिए बिना उनके व्यक्तित्व का चित्र अधूरा रह जाएगा । मध्यप्रदेश के सर्वप्रमुख दैनिकों में "चौथा संसार" की गणना होती है । माचवे ने अपने जीवन के अंतिम काल में इसी पत्र से जुड़े रहे । अपने कठोर परिश्रम के ज़रिए उन्होंने इस पत्र की ख्याति फैलाई । सितंबर 1988 से लेकर रोज़ उन्होंने तीन-तीन संपादकीय इस पत्र के लिए लिखते रहे- स्थानीय, राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय ।

1986 में डा. कैलाश चन्द्र भाटिया के साथ मिलकर डा. माचवे ने राहुल जी की स्मृति में एक विशाल ग्रंथ की योजना बनाई । उस ग्रंथ का शीर्षक था "राहुल स्मृति" । राहुल जी हमेशा माचवे केलिए प्रेरणा स्रोत रहे थे । संभव है कि इसी कारण माचवे के द्वारा इतना बड़ा काम आसानी से हो सका ।

महापंडित राहुल जी के साथ मिलकर माचवे ने "शासन शब्दकोश" तैयार किया । इसकी सफलता केलिए कई जगह घूमना पड़ा । 1948 में प्रकाशित इस ग्रंथ के बारे में श्री जगदीश चतुर्वेदी का कथन है कि "यह शब्दकोश अपने किस्म का बहुत ही विशिष्ट शब्दकोश था और माचवे जी ने इसे तैयार करने में तीन वर्ष लगाए ।"[1]

माचवे द्वारा संपादित अन्य ग्रंथ हैं -"जैनेन्द्र के विचार",

---

1. जगदीश चतुर्वेदी का लेख, "प्रभाकर माचवे कवि, चिंतक और अध्येता" भाषा त्रैमासिक, दिसंबर 1991, पृ. 13.

"गांधी शतदल", "बारह कदम", "शतदल", "भारतीय उपन्यास कथासार", "आदर्श पद्य-संग्रह", "आदर्श गद्य-रचना", "रेती के रात-दिन", "भारतीय संस्कृति" (दो खंड), "वाद और सिद्धांत", "मैत्री और सेवा", "भारतीय 2001", और धर्म, दर्शन, संस्कृति ।

आत्मकथा तथा जीवनीकार माचवे

प्रभाकर माचवे ने अपनी आत्मकथा की रचना अंग्रेज़ी में की। उसका शीर्षक है "फ्राम सेल्फ टु सेल्फ" । उनकी जीवनीपरक रचनाओं में "शिवा "राहुल सांकृत्यायन", "मैथिलीशरण गुप्त", "बालकृष्ण शर्मा नवीन", माखनलाल चतुर्वेदी" आदि उल्लेखनीय हैं ।

"फ्राम सेल्फ टु सेल्फ" में उन्होंने बडी तटस्थता के साथ अपनी खुबियों तथा खामियों पर विचार किया है । उन्होंने जिन जीवनियों की रचना की हैं उनमें भी यही दृष्टिकोण स्पष्टत: झलकता है ।

व्यंग्यकार माचवे

प्रभाकर माचवे ने अपनी प्राय: सभी कृतियों में व्यंग्य का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया है । उनके मर्मभेदी व्यंग्य-प्रयोग के बारे में डा.मारुति नंदन पाठक ने कहा है कि, "हास-परिहास, शब्द क्रीडा और व्यंग्य के तो माचवे जो मास्टर हैं, इसलिए ललित निबंधों में ये चीज़ें खास तौर से दिखाई पडती हैं उनके व्यंग्य की एक अलग खासियत यह है कि वहाँ

भी वे निस्संग हैं, इसलिए बेपरवाह हैं, वे स्वयं तो उनके असर की चिंता से मुक्त हैं किन्तु वह बाण कई परतों को चीरकर पार हो जाता है ।"[1]

"खरगोश के सींग", "बेरंग", "तेल की पकौड़ियाँ", "विसंग तथा "खबरनामा" माचवे की व्यंग्यात्मक रचनायें हैं । "खरगोश के सींग" के प्रकाशन के साथ ही वे व्यंग्य-रचनाकार के रूप में प्रसिद्ध हो गये । उनकी "विसंगति" पढ़कर "अज्ञेय" ने यों कहा था - "विसंगति पढ़ गया - खूब मजा लेकर । दो-एक जगह लगा कि शब्दों से खेलवाड़ को अधिक खींचा गया है, और यह तो जानता हूँ कि सभी जानते हैं कि आजकल आते-जाते अज्ञेय को अकारण भी एक घोल जमा देने से समालोचना को अनुकूलता मिल जाती है - फिर भी पढ़ने में मजा आया ; इस सुख के लिए आपका ऋणी हूँ । कुछ निबंध तो बड़ी मार्मिक चोट करनेवाले हैं ।"[2] "विसंगति" में माचवे जी ने अज्ञेय के व्यक्तित्व पर जो छींटाकशी की उसका उत्तर बाद में अज्ञेय ने अपने मित्र को दिया -

"मेधावी ये माचवे पर होते गये पोंगा,
कान से लगाए-लगाए अकादमी का चोंगा,
सब को मनाते,
हाँ में हाँ मिलाते,
घिघियाते-घिघियाते आखिर रह गये घोंघा ।"[3]

---

1. डा. कैलाश चन्द्र भाटिया द्वारा उद्धृत, बहुभाषाविद और साहित्यकार डा. प्रभाकर माचवे, भाषा, दिसंबर 1991.
2. डा. कैलाश चन्द्र भाटिया, बहुभाषाविद और साहित्यकार डा. प्रभाकर माचवे, भाषा, दिसंबर 1991.
3. जगदीश चतुर्वेदी का लेख, प्रभाकर माचवे कवि, चिंतक और अध्येता, भाषा, दिसंबर 1991, पृ. 17.

"माचवे जी ने गंभीर सवालों से जुड़े अपने विचार की अभिव्यक्ति केलिए जिस रम्य रचना-विधा को अपनाया, वह व्यंग्य-विनोद की सहज रंगत के कारण भी, पाठकों को प्रिय है ।"[1]

साहित्यिक तथा साहित्येतर महारथियों के साथ संबंध

प्रभाकर माचवे अपने समय के अनेक देशी तथा विदेशी साहित्यकारों के साथ गाढी मित्रता रखते थे । "उनका कार्यक्षेत्र बहुत विस्तृत था और वे अपने संबंधों का सम्मान करना भली-भाँति जानते थे ।"[2]

माचवे के व्यक्ति संबंधों के बारे में विष्णु खरे लिखते हैं - "दोस्ती और परिचय का आलम यह था कि तीस के दशक के बाद से 1661 तक के हर लेखक को वे जानते थे । भाषाओं में उनकी गति थी और जब जवाहरलाल नेहरू उन्हें साहित्य अकादमी में उपसचिव बनाकर ले आए तब तो वे अकादमी के प्रतीक और सर्वाधिक लोकप्रिय अफसर बन गये । कृष्ण कृपलानी सचिव थे, लेकिन अंग्रेज़ी मिजाज के थी । माचवे जी में महाराष्ट्रीय और मालवी मिलनसारिता का संगम था । वे धीरे-धीरे भारतीय साहित्यों के सेतु बन गये ।"[3]

---

1. डा. कृष्ण बिहारी मिश्र का लेख "अभिज्ञता का मुखर उल्लास", माचवे जीवन यात्रा एक पडाव कलकत्ता, सं. रतनलाल सुराणा, पृ. 15.
2. नर्मदेश्वर चतुर्वेदी का लेख, माचवे जी मानस क्षितिज पर", राष्ट्रभाषा संदेश 15 अगस्त 1991, पृ. 3.
3. विष्णु खरे का लेख, भारतीय साहित्यों का सेतु, नवभारत टाइम्स, बंबई, 23 जून 1991.

महापंडित राहुल सांकृत्यायन के साथ उनका संबंध इतना दृढ था कि राहुल जी ने ही माचवे के पुत्र का नाम "असंग" रखा ।[1] "वैसे तो माचवे जी अजातशत्रु थे, लेकिन साहित्यकारों में राहुल सांकृत्यायन, अज्ञेय, नागार्जुन, अमृतलाल नागर, बच्चन, पंत आदि वरिष्ठ लेखकों से शुरू करके वे श्याम परमार, जगदीश चतुर्वेदी, कैलाश वाजपेयी आदि तक पहुँचते थे । उनका रेंज अद्भुत था । भारत भूषण अग्रवाल तो अकादमी में उनके साथ ही थे और दोनों में काफी साहित्यिक और दफ्तरी नोकझोंक चलती थी । नागार्जुन से भी उनकी प्रगाढ मैत्री रही । उन्हें अपनी मित्रतायें बांटने में संकोच नहीं होता था, बल्कि दिल्ली में यदि किसी युवा का अपरिचित साहित्यकार को "सर्कुलेशन" में आना होता था तो माचवे जी की शरण में जाकर वह कृतार्थ हो जाता था ।"[2]

अपने समय के प्राय: सभी संपादकों के साथ वे अच्छे संबंध रखते थे । माखनलाल चतुर्वेदी, बनारसीदास चतुर्वेदी, रामवृक्ष बेनीपुरी, प्रेमचंद, काका कालेलकर, अज्ञेय, जैनेन्द्र कुमार, महादेवी वर्मा, गोपाल सिंह नेपाली, इलाचंद जोशी, सत्यकाम विद्यालंकार आदि उनमें कुछ हैं । भारतीय ही नहीं विदेशी साहित्यिकों के साथ भी माचवे का संबंध रहा था । नर्मदेश्वर चतुर्वेदी लिखते हैं -"उनका संपर्क एवं संबंध देश-विदेश के साहित्य-मनीषियों से बना रहता था और परस्पर विचारों के आदान-प्रदान में रुचि एवं रस लेते रहते थे । एक ओर पारंपरिक साहित्य के प्रति वे जिज्ञासु थे तो दूसरी ओर साहित्य की नवीनतम गतिविधियों के प्रति उनमें उत्साह और आकर्षण था

---

1. डा.कैलाश चन्द्र भाटिया का लेख, बहुभाषाविद् और साहित्यकार डा.प्रभा माचवे, भाषा, दिसंबर 1991.
2. विष्णु खरे का लेख "भारतीय साहित्यों का सेतु", नवभारत टाइम्स, बंबई 23 जून 1991, पृ. 6.
3. नर्मदेश्वर चतुर्वेदी का लेख "माचवे जी मानस क्षितिज पर" राष्ट्रभाषा संदेश 15 अगस्त 1991, पृ. 3.

साहित्येतर क्षेत्र के शीर्षस्थ व्यक्तियों के साथ भी माचवे का निकट संबंध रहा था । विष्णु खरे का कथन है कि "वे भाग्यशाली थे कि इस सदी के कुछ सर्वश्रेष्ठ लेखकों और गांधी, नेहरू, राधाकृष्णन, ज़ाकिर हुसैन, इंदिरा गांधी जैसे व्यक्तियों के संपर्क में आए ।"[1] माचवे के संपर्क की व्यापकता का अन्दाज़ लगाने केलिए उनके व्याह के दिन का स्मरण करना काफी है । "शादी में सम्मिलित हुए थे खान अब्दुल गफ्फार खान, जवाहरलाल नेहरू, मौलाना आज़ाद, सरोजिनी नायडू, जमुनालाल बजाज, आचार्य कृपलानी आदि ।"[2]

प्रभाकर माचवे प्रसिद्ध व्यक्तियों के साथ ही नहीं बल्कि नए लेखकों तथा निम्न स्तर के व्यक्तियों के साथ भी संबंध रखते थे । संपादक और पत्रकार के रूप में वे नए साहित्यकारों को प्रोत्साहन देते रहे थे । अहिन्दी प्रदेश के उदीयमान लेखकों के प्रति उनके मन में विशेष ममता थी । वे उन्हें निरंतर प्रोत्साहन देते थे । कोचीन विश्वविद्यालय के प्रोफसर व कवि डा.अरविन्दाक्षन की काव्य कृति "बाँस का टुकडा" की भूमिका माचवे जी ने ही लिखी है ।"[3] जो भी व्यक्ति उनके संपर्क में आते थे उनके साथ आत्मीयता की ऊष्मा को हमेशा बनाए रखने में भी माचवे कुशल थे ।

---

1. विष्णु खरे का लेख "भारतीय साहित्यों का सेतु", नवभारत टाइम्स बंबई, 23 जून 1991, पृ. 7.
2. जगदीश चतुर्वेदी का लेख "प्रभाकर माचवे कवि, चिंतक और अध्येता", भाषा, दिसंबर 1991, पृ. 12.
3. डा. ए. अरविन्दाक्षन, "बाँस का टुकडा", भूमिका ।

उपसंहार

साहित्यकार एवं व्यक्ति के रूप में भी प्रभाकर माचवे स्वर्णिम व्यक्तित्व के धनी थे । वे नवलेखकों केलिए रखवाले के समान थे । ज़रूरतमंदों के वे सहायक थे । भारतीयता तथा हिन्दी प्रेम भी उनमें कूट-कूटकर भरे थे ।

मराठी भाषी माचवे ने अपनी सर्वाधिक रचनाएँ हिन्दी में की । उनकी हिन्दी सेवा का स्मरण करते हुए नर्मदेश्वर चतुर्वेदी लिखते हैं - "माचवे जी ग्वालियर निवासी होकर प्रयाग से जुडे थे । मध्यप्रदेश और उत्तर प्रदेश की विभाजक रेखा को कभी उभरने नहीं दिया था और नवीन जी की भाँति उन्होंने भारतीयता को प्रश्रय तथा प्रोत्साहन दिया । मराठी होकर भी उन्होंने अपने को माधव राव सप्रे, लक्ष्मणनारायण गर्दे और बाबूराव विष्णु पराड़कर, अनन्त गोपाल शेवड़े की भाँति अपनी भारतीय पहचान बना ली । इसीलिए मराठी साहित्य के प्रति सजग रहते हुए भी उन्होंने हिन्दी साहित्य को प्राथमिकता दी और हिन्दी तथा मराठी के अन्तरावलंबन को रेखांकित करते रहे । उनका यह अवदान उनकी राष्ट्रीयता का परिचायक है । उन्होंने दिल्ली से लेकर कलकत्ता तक की संस्थाओं में ऊँचे पद पर रहकर राष्ट्रभाषा हिन्दी की सेवा की ।"[1]

माचवे मराठी, हिन्दी, अंग्रेज़ी तथा संस्कृत के प्रकांड पंडित थे । इन भाषाओं में मौलिक तथा आलोचनात्मक ग्रंथों की रचनायें करने के अलावा माचवे ने एक से दूसरे में अनुवाद भी किया । फिर भी उनकी अधिकतर

---

1. नर्मदेश्वर चतुर्वेदी का लेख माचवे जी मानस क्षितिज पर, राष्ट्रभाषा संदेश 15 अगस्त 1991, पृ. 3.

सेवा हिन्दी को ही मिली । किसी एक विधा को प्रभाकर माचवे की अभिव्यक्ति का माध्यम कहना अनुचित होगा । क्योंकि शायद ही कोई विधा हो जिसमें माचवे ने अपनी तूलिका नहीं चलाई हो । यहाँ तक कि वे अच्छे चित्रकार तथा वक्ता भी थे जिन सबका उल्लेख हो चुका है ।

प्रभाकर माचवे गांधीवादी थे । उनके व्यक्तित्व को रूपायित करने में गांधीवाद का बडा योगदान रहा है । माचवे ने अपनी रचनाओं के माध्यम से व्यक्ति और समाज की जो आलोचना की है उसका आधार बहुधा गांधीवाद ही है । माचवे की कविता, उपन्यास तथा निबंध-साहित्य में इस प्रकार का समाज विश्लेषण प्रचुर मात्रा में देखा जा सकता है । गांधीवाद के साथ-साथ प्रगतिवाद का भी प्रभाव माचवे पर पडा है ।

प्रभाकर माचवे व्यक्ति तथा समाज को मानवता पर आधृत दृष्टि से देखते हैं । सामाजिक मूल्यों के विघटन की चर्चा के संदर्भ में यह दृष्टिकोण स्पष्ट झलकता है । साहित्य में ही नहीं अपने वैयक्तिक जीवन में भी उन्होंने इसी दृष्टिकोण के साथ आचरण किया ।

गतिशील विश्वकोष, मनीषी, बहुभाषाविद्, साहित्यिक आदि के साथ-साथ उच्चकोटि के मानवतावादी के रूप में डा. प्रभाकर माचवे का नाम अमर रहेगा । रमण शाण्डिल्य की ये पंक्तियाँ सार्थक हैं -

"महाराष्ट्र की संतति, तुम हो महाराष्ट्र कुल भूषण ।
राष्ट्रभारती के मस्तक पर तुम बन आएँ चंदन ।।"[1]

---

1. रमण शांडिल्य, राष्ट्रभाषा संदेश, 15 अगस्त 1991, पृ. 6.

अध्याय : दो

स्वातंत्र्योत्तर युगीन भारतीय परिवेश और हिन्दी उपन्यास

एक रूपरेखा

स्वातंत्र्योत्तर युग :-

1947 से लेकर 1960 तक का समय स्वातंत्र्योत्तर काल से जाना जाता है । डा.प्रभाकर माचवे इस कालखंड के उपन्यासकार हैं । उनकी रचनाओं का सही अध्ययन केलिए स्वातंत्र्योत्तर युग का पर्याप्त ज्ञान आवश्यक है । क्योंकि उस समय खंड में समाज में जो भी घटनायें घटी हैं उनका प्रतिफलन उपन्यासों में भी अनिवार्यत: हुआ है ।

भारत में 1947 के बाद के समय को जबर्दस्त परिवर्तन का समय कहा जा सकता है । इस काल में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में भारी परिवर्तन हो रहा था । समाज में व्यक्ति अधिक महत्वपूर्ण हो गया । पहले जब व्यक्ति के माध्यम से समाज का विकास लक्ष्य किया जाता था, अब समाज के माध्यम से व्यक्ति का विकास माने जाने लगा राजनीतिक दृष्टि से देखा जाय तो व्यक्ति की अवस्था का परिवर्तन इस प्रकार का था कि खडे-खडे गुलाम, आज़ाद हो गया । इस मुक्त अवस्था ने जो दिशा हीनता उसे प्रदान की उसका बुरा असर आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों पर भी गंभीर रूप से पडा । जनता के सम्मुख स्पष्ट योजना के अभाव के कारण वे पूर्णत: असमंजस में पड गयीं । इस अवस्था का आगे संक्षेप में विचार किया गया है ।

सामाजिक परिस्थितियाँ

स्वतंत्र भारत की परिस्थितियाँ भूतपूर्व परिस्थितियों से एकदम भिन्न रही हैं । स्वतंत्रता की खुली हवा ने समाज के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित किया । रहन-सहन, खान-पान, भाषा आदि पर अंग्रेज़ों के शासन काल में ही बदलाव दीख पडता था । लेकिन जीवन का समग्रत: परिवर्तन स्वतंत्रता के बाद ही अनुभूत हुआ है ।

व्यक्ति की पहचान

स्वतंत्रता पूर्व काल में व्यक्ति-जीवन पूर्णतः समाज-सापेक्ष रहा था । उसके रहन-सहन, आचार-विचार, वेश-भूषा, शिक्षा, धर्म, दृष्टिकोण इत्यादि व्यक्ति से जुड़ी बातें समाज की पूर्व निर्धारित नियमों के आधार पर हुआ करतीं थीं । जैसे डॉ. हेमेन्द्र कुमार पानेरी ने सूचित किया है, "वस्तुतः व्यक्ति और समाज दोनों एक दूसरे के पूरक हैं । परन्तु परंपरागत सामाजिक विचारधारा के संदर्भ में आदर्शवादी और आंगिक सिद्धांतों के समर्थकों ने समाज को लक्ष्य या उद्देश्य मानते हुए व्यक्ति को निमित्त मात्र स्वीकार किया है । वे व्यक्ति को सामाजिक परिवेश से भिन्न ग्रहण नहीं कर पाते, समाज से पृथक व्यक्ति स्वातंत्र्य में उनका विश्वास नहीं है । इस दृष्टि में समाज सर्वोपरि है । इस प्रकार अब तक व्यक्ति अपने मौलिक परिप्रेक्ष्य में ही चित्रित हुआ है ।"[1]

उक्त परिस्थिति में व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास असंभव था । व्यक्तित्व का विकास तभी संभव होता है जब व्यक्ति स्वतंत्र हो । जब व्यक्ति के सभी कार्यों का नियंत्रण समाज के पूर्व निर्धारित नियमों तथा आचारों के आधार पर होता है तो उस व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास की कोई संभावना नहीं है । इसलिए व्यक्ति अपने व्यक्तित्व की पहचान केलिए संघर्ष करने लगा । लेकिन सारे प्रयासों के बावजूद व्यक्ति समाज के नियमों के सामने हार जाता था ।

अब स्वतंत्रता की भावना ने व्यक्ति को पहचान प्रदान की । जो समाज व्यक्ति का लक्ष्य हुआ करता था वह मात्र साधन बन गया

---

1. डा. हेमेन्द्र कुमार, स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास मूल्य संक्रमण, पृ. 14

जो व्यक्ति समाज का साधन हुआ करता था, वह अब साध्य हो गया । सहज ही सामाजिक मूल्यों में भी भारी परिवर्तन आ गया ।

भारतीय समाज पुरुष प्रधान है । इसलिए समष्टि की अपेक्षा जब व्यष्टि को प्रमुखता मिलने लगी तब पुरुष को ही प्रमुखता मिली । परिवर्तन की इस दिशा में भी स्त्री गौण मानी गयी । पुरुष के समान स्त्री का भी अपना व्यक्तित्व होता है । समाज को धीरे-धीरे इस तथ्य को मानना पडा है । क्योंकि व्यक्तित्व-स्थापना केलिए स्त्री और पुरुष के बीच होड होने लगीं । इस प्रकार व्यक्ति की प्रतिष्ठा में स्त्री का भी पूर्ण योग हुआ है । उसने अपनी परंपरागत नगण्य स्थिति की सीमा तोडनी चाही वह भी विद्रोह करने लगी । अबला नारी अब सबला बनकर समाज के विभिन्न कार्य-क्षेत्रों में प्रविष्ट होने लगी, जोकि पहले पुरुष के ही अधीन में थे ।

व्यक्ति के स्वतंत्र व्यक्तित्व के विकास में कम्यूणिस्ट विचार-धारा का कम महत्वपूर्ण स्थान नहीं है । युवा मानस में इसकी खूब प्रतिष्ठा हुई । युवक स्वभाव से विद्रोही होते हैं । व्यवस्था के विरोध में विद्रोह करना और क्रान्ति मचाना कम्युनिस्ट विचारधारा का मेरूदंड है । इस कारण युवा पीढि- स्त्री और पुरुष - इस विचारधारा की ओर आकर्षित हुई और उनके कार्यान्वयन में उन्होंने सक्रिय सहयोग भी दिया ।

परंपरागत पारिवारिक ढाँचे का विघटन

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत की पुरानी संयुक्त परिवार प्रणाली का ह्रास हुआ । अणु परिवार अधिक आकर्षक लगने लगे । इसका सबसे प्रमुख कारण व्यक्ति की अस्मिता को बनाए रखने की इच्छा है । संयुक्त परिवार का शाब्दिक अर्थ चाहे कितना ही महान हो उसका सबसे बडा दोष यह होता है कि परिवार का कोई सदस्य अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं

कर पाता । सारा समय या तो समस्याएँ बनाने में या बनी बनाई समस्याओं को सुलझाने में जाता है । लडाई-झगडा, खींचातान, बदला, ग्लानि सब मिलकर वातावरण ऐसे विषैला और दमघोंटू बना रहता है कि आप सांस नहीं ले सकता।[1] संयुक्त परिवार की भावना को बनाए रखने केलिए प्रेम, सहयोग और सुरक्षा की ज़रूरत होती है । लेकिन आलोच्य कालावधि तक ये तत्व पारिवारिक वातावरण से मिट गये । पारिवारिक बंधन ढीले हो रहे हैं । परस्पर वह स्नेह नहीं रहा जो पहले हुआ करता था । यों तो भाई-भाई में संपत्ति पर झगडे पहले भी होते दिखाई देते थे, परन्तु बहिन-भाई, पति-पत्नी में सदा स्नेह का व्यवहार रहता था । साथ ही झगडा, अपवाद होता था, नियम नहीं । अब तो झगडा नियम बन गया है और परस्पर स्नेह अपवाद ।[2] ऐसे दमघोंटू वातावरण में रहकर कभी व्यक्तित्व का विकास संभव नहीं है । अणु परिवार में सदस्यों के बीच आपसी संबंध, प्रेम आदि सरलता से बनाए रख सकते हैं ।

महानगरों में आवास की समस्या काफी गंभीर है । ऐसी अवस्था में संयुक्त परिवार के सभी सदस्यों को एक साथ रहने का प्रबंध करना बहुत कठिन हो जाता है । तंग घरों में बहुत मुश्किल से लोग रहते हैं । आर्थिक स्वाधीनता की समस्या ने भी संयुक्त परिवार के गिरफ्त से बचने केलि व्यक्ति को प्रेरित किया । संयुक्त परिवार में जो "कर्ता" होते हैं उन्हीं की इच्छा के अनुसार अर्थ का वितरण हुआ करता था । लेकिन आधुनिक पीढी यह विचार रखती है कि आर्थिक स्वतंत्रता के बिना उनका जीवन अधूरा रहेगा इसलिए भी आज व्यक्ति अणु परिवार की सृष्टि करना चाहता है । वह उसे अधिक सुविधाजनक भी लगता है ।

---

1. राजेन्द्र यादव, सारा आकाश, पृ. 209.
2. गिरते महल, पृ. 102.

मनुष्य सामान्य रूप से सरलता की ओर आकृष्ट रहता है । अणु परिवार की अपेक्षा संयुक्त परिवार कई गुना जटिल है । इसलिए भी आधुनिक युग में संयुक्त परिवार के प्रति उपेक्षा की दृष्टि रखी जाती है । जैसे अमृतराय ने सूचित किया है, "दुनिया खामख्वाह संयुक्त परिवार की लाश को ढो रही है । संयुक्त परिवार मर गया । इन हालतों में संयुक्त परिवार अब चल नहीं सकता ।"[1]

संयुक्त परिवार का संचालन किसी एक व्यक्ति के हाथों होता है । उस व्यक्ति की इच्छानुसार शेष सभी को चलना होता है । इस हालत में उस व्यक्ति के अलावा और किसी के व्यक्तित्व का विकास संभव नहीं है । क्योंकि वे सब उस एक व्यक्ति के हाथों के खिलौने हैं । लेकिन आज व्यक्ति जागृत है । परिणामतः वह किसी पर निर्भर नहीं रहना चाहता । आर्थिक रूप से वह स्वतंत्रता चाहता है । फिर आर्थिक रूप से स्वतंत्र व्यक्ति अपनी इच्छा आकांक्षाओं की भ्रूणहत्या क्यों स्वीकारेगा ? पृथक-पृथक रुचियों और विचारों के कारण संयुक्त परिवार के सदस्यों में संघर्ष बढता है । ऐसी स्थिति में संयुक्त परिवार को बनाए रखना काफी कठिन है । फलतः शताब्दियों से चली आयी संयुक्त पारिवारिक प्रथा की समाप्ति हुई और उसके समानान्तर अणु परिवारों का विकास भी हुआ ।

नारी के प्रति समाज के दृष्टिकोण में परिवर्तन

आधुनिक युग में परिवर्तन की लहरें नारी पर भी पडी । समाज में उसका जो नगण्य स्थान था, वह नहीं रहा । अबला, देवी आदि काल्पनिक विशेषणों को छोडकर स्त्री ने भी अपने व्यक्तित्व का निर्माण करने का प्रयास किया । शिक्षा प्राप्त करके नारी न केवल सरकारी और गैर सरकारी दफ्तरों में नौकरी करने लगी, वरन् राजनैतिक क्षेत्रों में भी उसने

---

1. अमृतराय, बीज, पृ. 219.

पुरुष के कंधे-से-कंधा मिलाकर कार्य किया । बहुधा व्यवसाय और जीविका के कारण पति-पत्नी को पृथक भी रहना पड़ा, जिसके फलस्वरूप उन्मुक्त यौन संबंधों में वृद्धि हुई । इस काल में यह प्रमाणित हुआ कि स्त्री भी एक व्यक्ति है ; उसका भी व्यक्तित्व होता है । बीते युग में स्त्री परावलंबिनी थी । लेकिन अब स्त्री स्वावलंबिनी बन गयी । सन् 1955 में बने "हिन्दू-विवाह-विधेयक" तथा सन् 1957 के "हिन्दू -कोड-बिल" के साथ ही सन् 1956 में पारित "हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम" आदि के फलस्वरूप न केवल वैवाहिक और उत्तराधिकार व्यवस्था से नारी वर्ग को लाभ हुआ, वरन् उसे स्वतंत्रता और समानता का भी वास्तविक रूप से अनुभव हुआ । अब वह स्वावलंबन की दिशा में अग्रसर हुई ।"[1]

नारी-सुधार कार्यों से नारी समुदाय को काफी लाभ हुआ है । स्त्री को राष्ट्र के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष के तुल्य अवसर दिया गया । अनेक नारियाँ राज्य सभा और लोकसभा की सदस्य बनीं । श्रीमती सरोजिनी नायडू, उत्तर प्रदेश में भारत की प्रथम स्त्री गवर्नर थी । श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित ने राजदूत के रूप में विदेशों में भारत का प्रतिनिधित्व किया है । संयुक्त राष्ट्रसंघ की प्रथम महिला अध्यक्ष विजयलक्ष्मी पंडित थी ।[2] इन प्रमुख हस्तियों का उल्लेख करने का मतलब यह नहीं है कि संपूर्ण नारी समाज उक्त महिला रत्न के समान स्वावलंबिनी हो गयी है । लेकिन यह कि आलोच्यकाल में ऐसे उच्च स्थानों का दायित्व संभालने के अवसर पुरुष के समान नारी को भी उपलब्ध हुए थे ।

परिवर्तित परिवेश का प्रभाव वैवाहिक संबंधों पर भी पड़ा

---

1. डा. अरुणा चतुर्वेदी, गांधी विचारधारा और हिन्दी उपन्यास, पृ. 225.
2. डा. अमरसिंह जगराम लोधा, हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक चेतना, पृ. ।

विवाह के स्थायित्व पर प्रश्न चिह्न लग गया है । आधुनिक युग में विवाह दो व्यक्तियों के बीच का समझौता है । पति-पत्नी में कोई शासक या शासित नहीं हो सकता । परिवार से संबंधित सभी कार्यों में दोनों व्यक्तियों का समान अधिकार होता है । पुराने विचारों का यहाँ कोई महत्व नहीं है । प्रेम विवाह में परंपरागत विचारों की अपेक्षा वैयक्तिक विचारों और पसंदों का अधिक महत्व है । पुराने विचारों के अनुसार, किसी व्यक्ति का विशेषकर नारी का, कुमारी रहना असंभव बात थी । लेकिन आधुनिक व्यक्ति इस भावना से सहमत नहीं है । वर्तमान अर्थ व्यवस्था, नारी शिक्षा आदि ने विवाह संबंधी धारणाओं को परिवर्तित कर दिया है ।

व्यक्ति समाज की पुरानी मान्यताओं को मानने केलिए आज तैयार नहीं है । यह विचारगत परिवर्तन नर-नारी में दिखाई देता है। समाज, पुरुष और स्त्री के प्रति भिन्न-भिन्न दृष्टि रखता था । आज समाज की दृष्टि में स्त्री-पुरुष के बीच की खाई कम हो गयी है ।

स्त्री और पुरुष के प्रति दृष्टि में जो परिवर्तन आया उसके अनुसार स्त्री-पुरुष संबंधों में भी परिवर्तन आने लगा है । पुराने ज़माने में पति शिक्षित और पत्नी अशिक्षित हुआ करती थीं । लेकिन आज दोनों शिक्षित होते हैं । दोनों अपने अपने अधिकारों तथा कर्तव्यों का ज्ञान रखते हैं । इस कारण मानसिक स्तर पर दोनों का सामंजस्य बिगड जाने की संभावना अधिक है । परंपरागत धारणा यही है कि पत्नी पति की गुलाम सी है । लेकिन जब स्त्री ने अपनी अस्मिता को बनाए रखना चाहा तो पुरुष को मज़बूर होकर अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन लाना पडा है । विवाह के पूर्व स्त्री का कोई यौन संबंध स्वीकार्य नहीं था । ऐसी स्त्री कलंकित मानी जाती थी । यह संबंध उसके वैवाहिक जीवन में बाधा बन सकता था । लेकिन पुरुष के अवैध

संबंधों पर कोई रोक नहीं थी । स्वातंत्र्योत्तर युग में इस विचार में भी बदलाव आ गया । संक्षेप में स्त्री और पुरुष केलिए जो अलग-अलग नैतिक दृष्टिकोण रखा जाता था, वह अब समाप्त हो गया है । अर्थात् स्त्री के प्रति समाज की दृष्टि में बडा परिवर्तन आ गया है ।

राजनीतिक परिस्थितियाँ

भारत के इतिहास में 15 अगस्त 1947 सबसे महत्वपूर्ण दिन है । उसी दिन भारत स्वतंत्र हुआ । स्वातंत्र्योत्तर युग के भारतीय राजनीतिक क्षेत्र की सबसे उल्लेखनीय बात भी स्वतंत्रता प्राप्ति है । निसंदेह यह सबसे बडी खुशी की बात है । लेकिन इस शुभ-घडी ने संतोष के साथ दुख भी बाँट दिया । इसके कारणों पर आगे विचार किया गया है ।

विभाजन का दर्द

भारत की आज़ादी कई कारणों से दर्दीली थी । जिस क्षण भारत स्वतंत्र हुआ उसी क्षण उसका विभाजन हुआ । भारत की मिट्टी ही नहीं भारत का मानस भी विभाजित हो गया । एक ही माता के पुत्रों के समान जिन मुसलमान और हिन्दू भाईयों को भाई-भाई रहना था, वे दुश्मन के समान आपस में वार करने लगे । इस संदर्भ में डॉ. अमरसिंह जगराम लोधा ने उल्लेख किया है -"स्वातंत्र्य के उदय काल में ही भारतीय रंगमंच पर मानव जाति के इतिहास का एक अभूतपूर्व करुण नाटक खेला गया । मानवता मर चुकी थी और जंगलियत का नग्न नृत्य हो रहा था । युगों से जिनके बाप-दादे शांत पडोसी रह चुके थे ऐसे लाखों को विभाजन के बाद अपनी जन्मभूमि छोडकर भागना पडा था । भारत सरकार एवं प्रजा ने सामाजिक क्षेत्र में शरणार्थी समस्या को मानवता का कार्य समझकर अपने सभी साधनों को लगा दिया था।

---

1. डा.अमरसिंह जगराम लोधा, हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक चेतना, पृ.।

युद्ध का सा वातावरण देश भर में हो गया । सडक के दोनों ओर टूटी हुई बैल गाडियाँ, जली हुई बसें और ट्रक, टूटे हुए बक्से, टूटे हुए तांगे, टमटम, लाशों के ढेर या एक दो लाशे और मनुष्य शरीर के छिन्न-भिन्न अंग, जहाँ-तहाँ दिखाई दे जाते थे ।[1]

विभाजन के साथ-साथ भारत के उत्तर तथा पश्चिम इलाकों में कई सांप्रदायिक दंगें घटित हुए । ऐसे स्थानों में या तो खुद गांधीजी या अन्य नेता तुरंत पहुँच जाते तथा जनता को शांत कर देते थे ।

शरणार्थी समस्या

पाकिस्तान से आए हुए शरणार्थियों के पीछे भारत सरकार को करोडों का खर्च करना पडा । आर्थिक सहायता एवं निवास-निर्माण के अतिरिक्त उद्योग-धंधे भी उनकेलिए खोले गये थे । शरणार्थियों में अपहृत स्त्री-बच्चों की समस्या भी थी । धर्मान्ध जंगलियों ने पति से पत्नी, बेटे से माँ, भाई से बहन और सगे-साइयों से नारी को अलग कर उस पर मन-माना अत्याचार किया था । अपहृतों को पुनः अपने सगों से मिलाने का विकट कार्य भी सरकार को करना था ।[2]

गांधीजी की हत्या

महात्मा गांधी अहिंसा के पुजारी माने जाते हैं । स्वतंत्रता प्राप्त करने के लक्ष्य से जब भारतवासियों ने अंग्रेज़ों के विरुद्ध संघर्ष करना शुरू किया तब भारतवासियों का एकमात्र हथियार अहिंसा था । लेकिन

---

1. यशपाल, झूठा सच, पृ. 20.
2. डा. अमरसिंह जगराम लोधा, हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक चेतना, पृ. 189.

आज़ाद होने के तुरंत बाद अर्थात् 30 जनवरी 1948 को गांधीजी की हत्या की गयी । इसके फलस्वरूप देश के राजनैतिक विकास में एक प्रकार के गतिरोध की स्थिति उत्पन्न हो गयी ।[1]

प्रमुख राजनीतिक दल

आलोच्य कालीन भारत का सबसे प्रमुख राजनीतिक दल इंडियन नैशनल कांग्रेस था । इसी दल के माध्यम से गांधीजी के नेतृत्व में भारत स्वतंत्र हुआ था । क्रांत दृष्टा गांधीजी भविष्य में उपस्थित होनेवाली सत्ता-लोलुपता की आन्तरिक कटुता जान गये थे । अतः स्वतंत्रता के बाद उन्होंने कांग्रेस का राजनीतिक दल के रूप में विलीनीकरण करने की सलाह दी थी ।[2] लेकिन गांधीजी को छोड अन्य कांग्रेसी नेता सत्ता को छोडने केलिए तैयार नहीं थे । यों आलोच्य काल में केन्द्र का शासन कांग्रेस दल ने ही किया ।

इस काल में प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा था । 1948 में जयप्रकाश नारायण, आचार्य नरेन्द्र देव जैसे प्रतिभाशाली नेताओं के नेतृत्व में सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना हुई । करीब इसी समय आचार्य कृपालानी के नेतृत्व में किसान मज़दूर प्रजापार्टी की स्थापना की गयी इन दोनों दलों के मेल ने प्रजा सोशलिस्ट पार्टी को जन्म दिया ।

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में कम्युनिस्ट प की भी महत्वपूर्ण भूमिका है । स्वतंत्रता के पूर्व इस दल को राष्ट्रविरोधी द के रूप में घोषित किया गया था । बाद में यह दल प्रांतीय तथा राष्ट्रीय पर स्वीकृत हो गया ।

---

1. डा. अरुणा चतुर्वेदी, गांधी विचारधारा और हिन्दी उपन्यास, पृ. 22
2. डा. अमरसिंह जगराम लोधा, हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक चेतना,

भारत के प्रथम आम चुनाव के तीन महीने पूर्व डा. श्यामप्रसाद मुकर्जी ने भारतीय जनसंघ की स्थापना की । आमचुनाव में इस दल ने काफी मत प्राप्त किए । प्रतिभासंपन्न श्यामप्रसाद मुकर्जी के नेतृत्व के कारण हिन्दू महासभा अकाली दल, गणतंत्र परिषद् तथा अन्य कई स्वतंत्र सदस्यों ने मिलकर "नेशनल डेमोक्रेटिक पार्टी" की स्थापना की । कम समय में ही यह दल भी लोकप्रिय हो गया ।[1]

हिन्दू महासभा, सोशलिस्ट पार्टी और फॉरवर्ड ब्लाक आदि भी ज़ारी थे । और भी कई दलों की स्थापना इस अवधि में हुई । रामराज्य परिषद्, गणतंत्र परिषद्, जनता पार्टी, झारखंड पार्टी, महा गुजरात जनता परिषद्, मुस्लीम लीग, द्रविड कड़गम आदि प्रान्तीय या क्षेत्रीय स्तर पर प्रमुख दल रहे ।

रियासतों का विलीनीकरण

भारत के स्वतंत्र होते ही भारतीय नेताओं ने सभी रियासतों को भारतीय संघ में विलीन किए जाने का प्रयास किया । प्राय: सभी रियासत इसकेलिए सहमत थे । लेकिन काश्मीर में "शेख अब्दुल्ला की सरकार परिस्थितियों के निरीक्षण के बाद निर्णय करना चाहती थी । अफर्रं कबाइलियों के लूट-खसोट, नारी-अपहरण तथा गाँव के गाँव जलाना आदि द्वारा कश्मीरियों पर अनेक अत्याचार किये गए । अत: मि. जिन्ना धैर्य खो बैठे । कश्मीर-महाराज ने रावलपिंडी में रुकी हुई खाद्य-सामग्री तथा अन्य अनिवार्य वस्तुओं को मुक्त करने तथा आक्रमणकारियों को रोकने की बात क आक्रमणकारियों के हथियार पाकिस्तानी थे । अंत में परेशान हो काश्म महाराज तथा अब्दुल्ला सरकार ने भारतीय संघ में शामिल हो सेना की

---

1. डा. अमरसिंह जगराम लोधा, हिन्दी उपन्यास में सामाजिक चेतना, पृ. 203.

सहायता माँगी ।[1] तीन दिन की गंभीर विचारणा के बाद गांधीजी के आशीर्वाद के साथ 27 अक्तूबर, 1947 को कश्मीर में वायुयानों से भारतीय फौजें भेजी गई । आक्रमणकारियों को भारतीय सेना ने दूर तक खदेड भगाया और पूरा कश्मीर हाथ में आनेवाला था, तभी भारत ने संयुक्त राष्ट्रसंघ में कश्मीर-आक्रमण का प्रश्न प्रस्तुत कर भारी भूल की । भारत ने सुरक्षा समिति से कश्मीर में पाकिस्तानी आक्रमण रोकने की अपील की । पाकिस्तान ने इसका इनकार करके उल्टे कश्मीर में होते काल्पनिक अत्याचारों की बात कही ।[2] कश्मीर वैधानिक रीति से भारत में शामिल हो चुका था । फिर भी भारत ने कश्मीर में जनमत की माँग का स्वीकार करके पाकिस्तानी सेनाएँ हटाने की शर्त रखी । राष्ट्रसंघ में पश्चिमी राष्ट्रों के ऐंग्लो-अमेरिकन गुट ने पाकिस्तान का पक्ष लिया और सोवियत रूस ने भारत का । तब से आज तक कश्मीर समस्या अनसुलझी व कभी न सुलझनेवाली विश्व की शीत-युद्ध की एक समस्या बन गई है ।[3]

भारतीय संघ में शामिल होने में असहमत दूसरी रियासत हैदराबाद थी । उसे जबरदस्त शामिल किया गया । "भारत ने निजाम {हैदराबाद के} से समझौते की बात भी चलाई । पर निजाम की घमंडी आवाज़ में रिजवी व लायकअली की प्रतिध्वनि थी । धैर्य खोकर नेहरूजी ने निजाम को नोटिस दिया कि उन्हें सिकन्दराबाद में भारतीय सेना रखनी पडेगी और न रखने पर सेना हैदराबाद में प्रवेश करेगी । हैदराबादी व पाकिस्तानी नेताओं ने खूब बौखलाहट की । पर अंत में भारतीय सेना ने हैदराबाद में प्रवेश किया और राजाकारों की शक्तियों का डेलडंबुआ उड गया ।[4]

---

1. विशाल भारत, सितंबर 1947, पृ. 203.
2. वही, पृ. 205, 206.
3. डा. अमरसिंह जगराम लोधा, हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक चेतना, पृ. 197.
4. विशाल भारत, सितंबर 1948, हैं. 118.

इसी प्रकार अन्य लगभग 600 देशी रियासतों के एकीकरण का अभूतपूर्व भगीरथ कार्य सरदार पटेल की कुशाग्र बुद्धि से परिपूर्ण हुआ ।[1]

आम चुनाव

26 जनवरी 1950 को भारत ने प्रथम गणतंत्र दिवस मनाया । डा. राजेन्द्र प्रसाद प्रथम राष्ट्रपति नियुक्त हुए । भारतीय संविधान के अनुसार 21 तक के सभी स्त्री-पुरुष को मताधिकार प्राप्त हुआ । इसके आधार पर 1952 में प्रथम आम चुनाव भी हुआ । फिर 1957 में दूसरा आम चुनाव भी। दोनों में काँग्रेस ने केन्द्र में अपना अधिकार जमाया ।

भारत की विदेशनीति

भारत की विदेश-नीति अहिंसा, तटस्थता, पंचशील तथा सह अस्तित्व पर आधारित है । इन सिद्धांतों के अलावा भारत की गुट-निरपेक्षता ने भी बाहरी दुनिया में भारत को शान बढा दी । भारत दुनिय भर के सबसे बडा प्रजातंत्र देश है । विभाजन के पश्चात् नए राष्ट्र के रूप में भारत को अनेक राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं पर अपनी परिपक्व मताभिव्यक्ति एवं व्यवहार द्वारा विश्व में अपना निश्चित स्थान बनाना था ।[1] उक्त सिद्धांतों के माध्यम से इसके कार्यान्वयन में भारत को बडी सफलता हासिल हुई ।

नेतागिरी और स्पर्धा की राजनीति

भारत का राजनीतिक क्षेत्र स्वतंत्रता के बाद प्रदूषित हो गया है । नेतागिरी और अधिकार केलिए स्पर्धा इस प्रदूषण का प्रमुख कार

---

1. डा. अमरसिंह जगराम लोधा, हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक चेतना, पृ. 198.

स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व सभी भारतीय राजनीतिक नेताओं का एक ही लक्ष्य था - आज़ादी । आज़ादी मिलने पर प्राय: सभी नेता अपने इस लक्ष्य से भटक गये । नेताओं का लक्ष्य स्वार्थ लाभ हो गया । उनके सामने राजनीति, अधिकार हथियाने का एक साधन मात्र रह गया । उनकेलिए नेतागिरी किसी व्यवसाय से कम नहीं है । इसलिए नेताओं के बीच होडा-होडी और आप-धापी चलती हैं । किसी भी मार्ग से अधिकार हथियाना उनका लक्ष्य हो गया है। अधिकार हथियाने के बाद उनका प्रयास उस अधिकार की कुर्सी को बनाए रखने केलिए होता है । भारत में हर पाँच साल बाद आम चुनाव होता है । चुनाव लडना, अधिकार हथियाना और वहीं जम जाना आज के नेताओं का लक्ष्य बन गया है । आज कल राजनीति का मतलब ही मतलबपरस्ती हो गया है ।

चुनाव लडना आज आसान कार्य नहीं है । क्योंकि बिना संपत्ति के कोई चुनाव लड नहीं सकता । इसकेलिए नेता गण गलत मार्गों से धन बटोरते हैं । "हवालाकांड" इसका ज्वलंत उदाहरण है । काले धन के बल पर चुनाव जीतनेवाला नेता कभी अपने स्वार्थ को छोड नहीं सकेगा । यदि उसने चुनाव जीतने केलिए खर्च किया है तो अधिकार मिलने पर वापस वसूल करने प्रयास ज़रूर करेगा ही । यह जनतांत्रिक व्यवस्था की सबसे हानिकारक पहलू है । इस कारण यह व्यवस्था अपने मौलिक लक्ष्य से हट सकती है । स्वतंत्र भारत में भी यही हुआ ।

कई वर्षों से गुलामी तथा अत्याचारों का अनुभव करनेवाली जनता भारत में एक स्वर्णिम युग का सपना देखा करती थी । लेकिन उनके सपने साकार नहीं हुए । उन्हें निराश होना पड रहा है । देश में रिश्वतखोरी डकैती, आगजनी, अव्यवस्था, षड्यंत्र, चोर बाज़ारी, भुखमरी और भ्रष्टाचार आदि बढते जा रहे हैं । जनतंत्र पर जनता का विश्वास खो गया है । नेताओं पर जनता का विश्वास भी नष्ट हो गया है ।

भारतीय संस्कृति मूल्याधिष्ठित मानी जाती है । अत: जन सामान्य के स्वतंत्र भारत का सपना भी मूल्याधिष्ठित था । आम जनता ने स्वतंत्र भारत के जितने भी सपने देखे सब झूठे साबित हो गए ।

सामंतवाद का बदलता रूप

भारत छोटी-छोटी रियासतों का देश था । स्वाधीन भारत में ये रियासतें नहीं रहीं । इस प्रकार उन्हें जोडा गया और विशाल भारत की नींव पडी । जो सामंती व्यवस्था रियासतों में प्रचलित थी स्वाधीनत प्राप्ति के बाद मिटने लगी । लेकिन मानसिक धरातल पर जो सामंती मानसिकत सोयी पडी थी वह जागृत हो गयी । पुराने सामंतियों के स्थान पर स्वतंत्र भारत में नेताओं तथा प्रजातंत्र के मंत्रियों का उदय हुआ । गांधीजी के बल पर जो नेता बन गये थे वे गाँधीजी को अधिकार प्राप्ति का साधन बनाने लगे ।

स्वार्थहीन राष्ट्र सेवकों के स्थान पर जिन स्वार्थी राजनीतिज्ञों का उदय हुआ है, वे ही अभिनव सामंतवादी हैं । नेता, मंत्री, दफ्तर के अफसर तथा साधारण कर्मचारी तक मानसिक रूप में सामंतवादी हो गए हैं । स्वतंत्रता के बाद खुशहाली और सुविधाओं से भरे अच्छे दिनों की प्रतीक्षा आम जनता में थी । लेकिन उन्हें भीषण व क्रूर दिनों का सामना करना पडा ।

सांप्रदायिकता की पकड

भारत में सांप्रदायिकता के पनपने के अनेक कारण थे । मुगलकालीन जबर्दस्त धर्मांतरण से लेकर, भारतीय जनता में फूट डालने की अंग्रेज़ की कोशिश तक अनेक कारणों से भारतीय जनता विभाजित हुई ।

सांप्रदायिकता का मूल कारण धर्म ही है । धर्म लोगों को उन्मत्त कर देता हैं । इस प्रकार मनुष्य सामान्य बुद्धि खोकर तत्काल को जोश में कार्य करने लगता है । उसका विवेक खो जाता है । फलत: वह पिशाच बन जाता है । इस कारण सांप्रदायिक दंगों का उदय होता है । फिर जो संघर्ष और लडाई होते हैं उनमें हज़ारों जानों की बलि दी जाती है । कूट राजनीतिज्ञ विजयी निकलता है । विवेकहीन साधारण मनुष्य हताश, निराशा होकर पराजय स्वीकार करता है । देश के विभाजन से भी सांप्रदायिकता तृप्त नहीं हुई । उसकी आग अग्रसर होती गयी ।

भारत में सांप्रदायिकता के आधार पर कई पार्टियों का उदय हुआ है जिनके परिणाम स्वरूप समय समय पर सांप्रदायिकता भडकती रही है । दरअसल राजनीति में सांप्रदायिकता का प्रवेश बडा विध्वंसकारी होता है । भारत घोषित रूप से धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र होते हुए भी धार्मिक सांप्रदायिक के विषैले वातावरण से बुरी तरह पीडित है ।[1]

सांप्रदायिक दंगों के छिडने के धर्म, जाति, भाषा, संस्कृति आदि अनेक कारण हो सकते हैं । हिन्दू और मुसलमान के बीच चमार और खत्री के बीच तथा हिन्दी भाषी और तमिल भाषी के बीच संघर्ष उत्पन्न हो सकता है । ऐसे संघर्षों से राजनीतिक नेता अवाँछित लाभ उठाते हैं । राजनीति के संदर्भ में धर्म का उपयोग मनुष्य मनुष्य के बीच संघर्ष उत्पन्न करने के साधन हो हैं । इस कारण धर्म का पवित्र रूप ही नष्ट हो गया है । मानवता को उदात्त बनाने के लिए धर्मों की स्थापना हुई थी । लेकिन धर्म अपने लक्ष्य से हट गये धर्म को अपने लक्ष्य से हटाए गए ।

---

1. डा. हेमेन्द्र पानेरी, स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास मूल्य संक्रमण, पृ. 2६

सचमुच सांप्रदायिकता राष्ट्रीय एकता को बनाए रखने में बाधा उपस्थित करती है । जिस क्षण धर्म और संप्रदाय मनुष्य को हानिकारक सिद्ध होता है उसी क्षण हमें उसे छोडकर उसकी संकुचित सीमा से बाहर आना है । नहीं तो हमारा दृष्टिकोण संकुचित हो जाएगा । यों हमारे आत्म-विकास में बाधा भी आ सकती है ।

स्वातंत्र्योत्तर आर्थिक स्थिति

स्वातंत्र्योत्तर युग में जो परिवर्तन भारतीय जन-जीवन में दिखाई दिया उसका जबर्दस्त प्रभाव आर्थिक क्षेत्र पर भी पडा । अंग्रेज़ शासक सचमुच शोषक थे । उन्होंने भारत की आर्थिक स्थिति को सुधारने का कोई प्रयास नहीं किया । इसलिए स्वतंत्रता के तुरंत बाद भारत सरकार को ढेर सारी आर्थिक समस्याओं का सामना करना पडा ।

विभाजन का आर्थिक क्षेत्र पर प्रभाव

देश के विभाजन द्वारा भारत को भारी हानी पहुँची है । दुनिया में सर्वाधिक जूट का उत्पादन पूर्वी बंगाल में होता था जो पूर्वी पाकिस्तान में शामिल किया गया । पश्चिमी पंजाब जो गेहूँ का समृद्ध भंडार था, अब पश्चिमी पाकिस्तान का अंग हो गया । अविभक्त भारत की पूँजी से बना सक्कर बेरेज एवं नहरों की श्रेष्ठ सुविधा का प्रदेश सिंध पंजाब भी पाकिस्तान में गया । रूई उत्पादन केलिए भी सिंध प्रसिद्ध था । भारत को इन सबसे हाथ धोना पडा ।

---

१. डा.अमरसिंह जगराम लोधा, हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक चेतना, पृ. 204.

विभाजन के साथ भारत के सामने शरणार्थियों की समस्या भी आ उपस्थित हुई । शरणार्थियों केलिए मानवता की दृष्टि से देश ने 1948-60 ई. के अंत तक 392-94 करोड रुपये खर्च किये थे ।[1]

वर्ग भावना की जागृत स्थिति

परंपरागत वर्ण व्यवस्था के अनुसार कोई भी व्यक्ति अपनी हैसियत बदल नहीं सकता था । हर व्यक्ति का कोई-न-कोई पेशा होता था । उसी के आधार पर समाज में उसका स्तर भी पूर्व निश्चित होता था । लेकिन आधुनिक अर्थाश्रित समाज व्यवस्था में कोई भी व्यक्ति कोई भी पेशा चुन सकता है, अपने जीवन स्तर को निश्चित करने का संपूर्ण उत्तरदायित्व भी उसी पर निर्भर रहता है । यह आधुनिक अर्थ व्यवस्था की सबसे बडी विशेषता है ।

पुरातन वर्ण भावना के स्थान पर वर्ग भावना को प्रतिष्ठित करने में सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान मार्क्सवादी विचारधारा का रहा है । मार्क्सवाद के प्रचलन के साथ-साथ वर्ण-व्यवस्था से पिसे गये सर्वहारा वर्ग का जागरण हुआ । साम्यवाद से प्रभावित होकर निम्नवर्ग संघर्ष करने लगा । इस प्रकार उन्हें अपने सुधार के कार्य में सफलता मिली । संगठनों के बल पर उन्होंने अपनी शक्ति बढाई । उनके संघर्ष के द्वारा पूँजीवाद की गहरी जडें उखाडी गयीं ।

पंचवर्षीय योजनाएँ

विदेशी शासन के बाद भारत की आर्थिक स्थिति अत्यंत बुरी थी । भारतीय नेता अच्छी तरह जानते थे कि सशक्त आर्थिक आधार

---

1. डा. अमरसिंह जगराम लोधा, हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक चेतना, पृ. 205.

ही एक सशक्त राष्ट्र का संगठन संभव है । इसलिए उन्होंने पंचवर्षीय योजनाओं का प्रारंभ किया । भारत में एक सुदृढ आर्थिक धरातल के निर्माण केलिए यह पहला प्रयास कहा जा सकता है । कृषि, उद्योग तथा कल-कारखाने, ग्रामीण विकास, लघु उद्योग आदि पंचवर्षीय योजनाओं के अनेक लक्ष्य रहे । इस ओर काफी सफलता भी हासिल की गयी थी ।

समाज के प्रत्येक क्षेत्र में आत्मनिर्भरता हासिल करने केलिए विदेशों से आर्थिक सहायता मांगी गयी थी । इसके फलस्वरूप अनेक कल-कारख की स्थापना हुई । देश के विभिन्न स्थानों में बडे-बडे बाँध बनाए गए । यह बिजली उत्पादन तथा सिंचाई की दृष्टि से बहुत बडी उपलब्धि है ।

प्रथम पंचवर्षीय योजना 1951 में शुरू हुई । इस योजना के अंतर्गत कृषि उद्योग, तथा समाज सेवा के विभिन्न कार्यों को सम्मिलित करने क प्रयत्न किया गया । लेकिन कृषि के सुधार पर ज़्यादा बल दिया गया । मूलत: योजना सार्वजनिक और निजी दो क्षेत्रों में विभाजित थीं, इस प्रकार राष्ट्रीय विकास के सामान्य विकास में राज्य और निजी उपयोग दोनों को भाग लेने दिया गया था....।[1] प्रथम पंचवर्षीय योजना की कालावधि में उर्वरक, रेल इंजन, पेनसिलिन, डी.डी.टी, अखबारी कागज़, मशीन के पुर्जे आ के अनेक कारखाने खोले गये ।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि को प्राथमिकता देना एक ज्वलन्त चुनौती का सीधा साक्षात्कार था । कुल व्यय का लगभग एक-तिह कृषि, सामुदायिक विकास, सिंचाई और बाढ-नियंत्रण आदि पर व्यय हुअ

---

1. जवाहरलाल नेहरू, प्रेंक मोरेस, सरस्वती प्रेस, 5 सरदार पटेल मार्ग, इलाहाबाद ।

जनजीवन को तोडनेवाले विभिन्न मोर्चों को संभालना था । कृषि और सिंचाई आदि के साथ पशुपालन, उद्यान, वन, मत्स्य, सहकारिता, राष्ट्रीय प्रसार सेवा, ग्रामीण उद्योग, चिकित्सा, जन-स्वास्थ्य, जलपूर्ति, शिक्षा, परिवहन और परिवार-नियोजन आदि के एकदम नये आयाम देशभर में उभरे ।[1]

द्वितीय पंचवर्षीय योजना की शुरूआत 1956 में हुई । इसकी अवधि 1961 तक थी । इसके दौरान 4800 करोड रुपये सार्वजनिक क्षेत्र में तथा 4600 करोड रुपये निजी क्षेत्र में खर्च किए गये । लेकिन प्रथम योजना की अपेक्षा यह असफल रही । फिर भी इस योजना के माध्यम से काफी आर्थिक विकास संभव हुआ । इस योजना में उद्योग को प्राथमिकता दी गयी थी । राउरकेला, भिलाई तथा दुर्गापुर के इस्पात के कारखानों के अतिरिक्त सिन्द्री में खाद का कारखाना खोला गया । कुटीर-उद्योग असन्तोषजनक रहा । ग्रामीण क्षेत्रों में सरकारी रेडियो सेट की पहुँच, चकबन्दी से लेकर बन्दरगाह विकास तक विशाल राष्ट्रव्यापी विकास कार्यक्रम बना, परन्तु "दस वर्ष में पैदावार दुनी" का लक्ष्य पूर्ण नहीं हुआ ।[2]

इस प्रकार पंचवर्षीय योजनायें भारत के विकास पथ में एक हद तक सफल कदम थीं । आलोच्य काल में दो योजनायें आयोजित की गयी थी । ये भारत की आर्थिक प्रगति केलिए एक सुदृढ भूमिका साबित भी हुई

उक्त आर्थिक प्रगति से भारत की माँगों की पूर्ति संभव नहीं थी । इसलिए विदेशों से देश के सुधार केलिए भारी रकम कर्ज लो गयी थी । कर्ज लिए गये धन पर आधारित अर्थ व्यवस्था स्थायी नहीं हो सकत यही भारतीय अर्थ व्यवस्था की खामी थी ।

---

1. विवेकी राय, स्वातंत्र्योत्तर कथा साहित्य और ग्राम जीवन, पृ. 67.
2. वही, पृ. 68.

ग्रामीण विकास की दिशा में अन्य प्रयास

पंचवर्षीय योजनाओं के साथ-साथ सरकार ने अन्य कई योजनायें चलायीं । 1952 के गाँधी जयंती के अवसर पर 55 कार्यक्रमों का सामुदायिक विकास योजना का शुभारंभ किया गया । "अधिक अन्न उपजाओ", इस योजना का लक्ष्य था । यह योजना इसलिए असफल रही कि यह अमरीकी परिवेश में बनाई गई थी और भारतीय परिवेश में यह बेमेल साबित हुई । फिर 1953 में जिस राष्ट्रीय प्रसार योजना का प्रारंभ हुआ वह 1957 में सामुदायिक विकास योजना के अंतर्गत लायी गयी । 1958 में जिला परिषदों की स्थापना हुई और क्षेत्र-विकास समितियाँ इसके अंतर्गत की गयीं । इस प्रकार ग्राम-स्तर का प्रशासनिक ढाँचा एकदम बदल गया । यानी प्रशासनिक तौर पर प्रजातांत्रिक विकेन्द्रीकरण हुआ था । इस केलिए विशाल धनराशि का व्यय भी किया गया । कृषि, उद्योग, सहकारिता, यातायात, शिक्षा, स्वास्थ्य, प्रशिक्षण, गृहनिर्माण और समाज निर्माण आदि समस्त क्षेत्रों में विकास हुआ । फिर भी भारत की 2।4898 पंचायतों में ग्रामीण अपने मौलिक अधिकारों के लिए आज भी संघर्ष रत हैं ।[1]

सहकारी समितियाँ

ग्राम जीवन को सुधारने के प्रयासों में सहकारी समितियों का अपना एक महत्वपूर्ण स्थान है । इनका नारा "उन्नत खेती, उन्नत व्यापार और उन्नत जीवन था ।" जैसे विवेकी राय ने सूचित किया है, "ग्राम जीवन के उन तीन महारोगों की यह औषधि कही जाती है जिन्हें हम ऋणग्रस्तता, कृषि-उपज की विक्रय-लूट और बेकारी के नाम से पहचानते हैं । साहूकार, महाजन, व्यापारी, मंडी और आढ़तियों के चंगुल से किसानों की मुक्ति उनके

---

1. विवेकीराय, स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य और ग्राम जीवन, पृ. 72-74.

लिए एक परम आह्लादकारी कल्पना है जो सहकारी समितियों से चरितार्थ होने जा रही है ।"[1] इन समितियों के माध्यम से ग्रामीणों को सुविधा से ऋण मिल जाता है । और उपज की बिक्री की सुविधा भी आसानी से हासिल हो जाती है । यद्यपि कई कारणों से ये समितियाँ प्रथमत: असफल रही, फिर भी अंतत: उन्होंने सफलता हासिल की है ।

कुटीर-उद्योग में प्रगति का प्रयास

बेकारी की समस्या स्वातंत्र्योत्तर भारत की सबसे बड़ी समस्याओं में से थी । बड़े-बड़े कल-कारखानों की स्थापना के द्वारा इस समस्या का सुलझाना असंभव था । इसलिए सरकार ने कुटीर उद्योगों को बढ़ावा दिया "चरखे का सम्मान निस्संदेह बढ़ा और घरों में इसका सादर प्रवेश हो गया । खादी ग्रामोद्योग का भी विशेष विकास हुआ । कताई, बुनाई, मिट्टी का काम, चर्म और काष्ठकला, साबुन, गुड़, मधु और तेल आदि उद्योगों के नये सिरे से विकास के साथ गाँव में एक बड़ी समस्या भी उठी कि इन उद्योगों में जाति स्तर पर परंपरा से लगे हुए लोग बेकार होने लगे । औद्योगिक बस्तियों का प्रसार अब गाँवों में भी होने लगा । सरकारी औद्योगिक समिति का योग भी कुटीर-उद्योग को मिलने लगा ।[2] बड़े बड़े उद्योगों में भारी धन-राशि का व्यय होता है । इसकी अपेक्षा कुटीर उद्योगों का खर्च बहुत कम हो है और नौकरी की संभावना कई गुना अधिक होता है । इसलिए कुटीर उद्योगों को भारतीय सरकार ने प्रोत्साहन दिया ।

औद्योगीकरण और उनका प्रभाव

भारत एक कृषि प्रधान देश है । लेकिन भारत वैज्ञानिक

---

1. विवेकीराय, स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य और ग्राम जीवन, पृ.
2. वही, पृ. 78-79.

आविष्कारों के प्रभाव से अछूता नहीं था । इसके साथ-साथ भारत आत्मनिर्भर होना चाहता था । इन दो कारणों से भारत की कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था का महत्त्व घट गया । मानव-शक्ति की दृष्टि से भारत संपन्न देश है । लेकिन यंत्र-शक्ति के सामने मानव-शक्ति गौण हो गयी । यंत्रीकरण ने नयी-नयी समस्याओं को खड़ा कर दिया ।

क. शहरीकरण

आधुनिक शहरीकरण औद्योगीकरण की उपज है । उद्योगों के शुरू होते ही गाँवों से बड़ी संख्या में लोग शहरों में आ बसे । उनके आवास की बात एक बड़ी समस्या बन गयी । गाँवों के किसानों में अनेक, शहरी जीवन के स्वर्णिम सपने संजोए शहरों की ओर निकले । नगरों के ऊँचे जीवन-स्तर, बाहरी ठाट-बाट एवं विलासिता के कारण स्त्री-पुरुष, सम्मिलित परिवार के विरोधी थे । उनका जीवन आत्मरत, व्यक्तिवादी, स्वार्थी एवं मशीन-सा होने के कारण वे अपने पड़ोसी से भी अपरिचित रहते थे ।[1]

शहरीकरण में तेजी लानेवाला एक प्रमुख तत्व शिक्षा का प्रचार भी है । अशिक्षित तथा अल्पशिक्षित सभी प्रकार के लोग कृषि छोड़कर शहर जाना चाहते थे । फिर शिक्षितों का क्या कहना ? वे भी अपना भाग्य शहरों में खोजने लगे ।

मज़दूर संगठनों का उदय

बड़े-बड़े कारखानों तथा उद्योगों के संस्थापन के साथ-साथ समाज के वर्ग विभाजन तीव्र हो उठा । मज़दूरों के संगठनों का उदय भी हुआ

---

1. प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक चेतना, पृ. 192.

इन संगठनों के द्वारा श्रमिक ने अपनी माँगें पूँजीपतियों के सामने रखी । इस प्रकार वे अतिरंजित शोषण से एक हद तक मुक्त हुआ करते थे । पूँजीपतियों के अत्याचारों से मुक्त होने केलिए मज़दूरों के सामने यही एक आश्रय था । लेकिन बाद में मज़दूर संगठनों के भ्रष्टाचार के कारण उत्पादन में मंदी पड़ने लगी । वर्ग संघर्ष को भी इसने बढावा दिया, घेराव, हड़ताल आदि के कारण जो समस्याएँ उत्पन्न होती थीं उनका प्रभाव शासन पर भी पड़ता था ।[1]

संक्षेप में, भारतीय संविधान के अनुसार प्रत्येक भारतीय समान हैसियत का हकदार है । लेकिन यह समानता समाज में लागू होना असंभव है । जिसके पास अर्थ, शक्ति तथा क्षमता है वह अधिकाधिक कमाता रहता है । जो किसी भी आधार पर कमज़ोर है, वह और कमज़ोर होता जा रहा है । कमज़ोर वर्ग की उन्नति केलिए जनतांत्रिक सरकार ने जो भी किया वह बिचौलियों की वजह असफल निकला । अर्थात् "सशक्त का राज", जो बर्बरों की सामाजिक व्यवस्था का आधार था, आज भी चल रहा है । स्वतंत्रता पूर्व भारतीय समाज में जो खाई अमीर-गरीब के बीच दिखाई देती थी, वह आज बढ गयी है । शहरी जीवन की जटिलता में फंसकर मध्यम वर्ग टूट रहा है । उच्चवर्ग और निम्नवर्ग का अंतर भी और गहरा हो रहा है

सांस्कृतिक परिस्थितियाँ

ईश्वर, धर्म, अध्यात्म, नैतिकता, दर्शन, कला आदि का संस्कृति के साथ गहरा संबंध होता है । भारतीय संदर्भ में धर्म, विश्वास, दर्शन, साहित्य, नदी, तीर्थ, शिक्षा, वर्ण, मूर्ति, नृत्य, मंदिर, जीविका त्योहार, विवाह, संस्कार, रीतिरिवाज़, पोशाक, पूजा, गीत, कला, भोजन इत्यादि सब कुछ संस्कृति के विभिन्न अंग है । स्वातंत्र्योत्तर यु

---

1. विवेकीराय, स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य और ग्राम जीवन, पृ. 92.

इन सांस्कृतिक पहलुओं पर भी परिवर्तन का झोंका पडा । इस मुद्दे पर आगे विचार किया गया है ।

स्वतंत्रता के परवर्ती काल में देश में भारतीय और पाश्चात्य संस्कृतियों का समानान्तर विकास हुआ । इन दोनों में विरोध के फलस्वरूप एक अभिनव संस्कृति की भी उद्भावना हुई, जिसमें मानवतावादी जीवन-मूल्यों की प्रधानता थी । यह संस्कृति, विज्ञान की उपलब्धियों से भी प्रभावित थी और इस दृष्टि से युग-जीवन के अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल थी ।[1]

क. धार्मिक मान्यताओं में परिवर्तन

भारतीय संस्कृति का धर्म के साथ गहरा संबंध है । भारत के जनजीवन में कोई भी ऐसा पहलू नहीं हैं जो धर्म से अछूता हो । चिंतन-मनन, वेश-भूषा, रहन-सहन, खान-पान इत्यादि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धर्म का गहरा प्रभाव देखा जा सकता है । वर्तमान युग में भी, जब भौतिक साधनों को संग्रहीत करने केलिए मनुष्य होडा-होडी करता है, धर्म की पकड से वह बच नहीं सका है । चाहे कोई समाज भौतिक दृष्टि से ऊँचा हो, चाहे निचला, उस पर धर्म के प्रभाव की कोई कमी नहीं रहती है । भारतीय जीवन की पृष्ठभूमि में धर्म का गहरा प्रभाव यहाँ स्पष्ट दिखाई देता है ।

आलोच्य काल में धर्म के विषय में जन-साधारण का दृष्टिकोण बदल रहा था । जादू, टोना, अंधविश्वास, पाखंड, रूढिवादी और शोषण से मुक्ति के हेतु भी जन-चेतना के जागरण का आह्वान किया रहा था । विभिन्न दैवी अभिशापों से त्राण दिलानेवाली शक्ति अब ईश को न मान कर उसके स्थान पर मनुष्य को माना जाने लगा । विज्ञान,

---

1. डा. अरुणा चतुर्वेदी, गांधी विचारधारा और हिन्दी उपन्यास, पृ.

उद्योग और अंतर्राष्ट्रीय बंधुत्व की भावनाओं के विकास के साथ भी मानवतावादी संस्कृति के विकास की संभावनाओं ने जन्म लिया । मनुष्य यह मानकर चलने लगा कि वही इस सृष्टि का नियंता है । इसीलिए संस्कृति के क्षेत्र में अध्यात्मवाद के स्थान पर भौतिकवाद को स्वीकृति दी गयी ।[1]

मनुष्य में धर्म के प्रति वितृष्णा तथा लौकिक साधनों के प्रति तृष्णा दिखाई देते हैं । लेकिन यह कृत्रिम और दिखावा है । धर्म के प्रति वितृष्णा दिखाना आजकल फैशन हो गया है । अर्थात् ऐसे भी लोग होते हैं जो असल में धर्म पर विश्वास करता है, पर धर्म के विरुद्ध बोलता भी है । इसका मतलब यह नहीं कि धर्म पर विश्वास न करनेवाले मयस्सर नहीं है । सचमुच जो धर्म पर विश्वास नहीं करते हैं उनका अनुकरण करके वैज्ञानिक दृष्टि से आधुनिक बनने केलिए भी कुछ लोग धर्म का इनकार करने का अभिनय करते हैं । कुछ भी हो, एक बात सच है कि जिस हद तक वैज्ञानिक उपलब्धियों का उपयोग समाज में बढता जा रहा है उसके अनुसार धर्म पर मनुष्य का विश्वास भी घटता जा रहा है ।

कार्ल मार्क्स, फ्रेडेरिक एंगेल्स, सिगमंड फ्रायड और गेस्टाल्ट आदि के विचारों के प्रभाव से धर्म पर जबर्दस्त चोट लगाई गयी । इन चिंतकों की मान्यताओं ने भी संस्कृति के रूढरूप की समाप्ति और अभिनव रूप के विकास की संभावनाओं को जन्म दिया । फिर भी ऐसे अनेक नहीं थे जिन्होंने धर्म पर विश्वास सचमुच ही छोड दिया था । इस प्रकार स्वतंत्रतापूर्व की मार्फत स्वातंत्र्योत्तर भारत की धार्मिक मान्यताओं में बहुत बडा फर्क है।

---

१. डा.अरुणा चतुर्वेदी, गांधी विचारधारा और हिन्दी उपन्यास, पृ.228.

बदलती नैतिक दृष्टि

आधुनिक युग में विज्ञान का आधार प्रबल है । नैतिकता के प्रति मनुष्य की दृष्टि में भी भारी अंतर दिखाई देता है । परंपरागत मूल्यों का ह्रास हो रहा है । इसका मतलब यह नहीं कि स्वातंत्र्योत्तर युग में नैतिकता का कोई स्थान नहीं रहा है, बल्कि यह है कि बदलते सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार समाज का नैतिक दृष्टिकोण भी बदल जाता है ।

पुराने समय में नैतिकता तथा धार्मिकता एक ही थी । विकास प्राप्त समाज में ये दोनों एक नहीं हो सकती । धर्माश्रित नैतिकता का आधार धार्मिक प्रवर्तकों के विचार तथा आदर्श था । ये विचार तथा आदर्श धार्मिक ग्रंथों में ही उपलब्ध होते थे । लेकिन परवर्ती काल में नैतिकता का आधार मानवता ही है । इस प्रकार धर्म की गलत व्याख्या के बल पर जो मानवताहीन नैतिकता का प्रचार हुआ था उसका अंत हुआ । अर्थात् जो धर्माश्रित मानवताहीन कार्य पूर्ववर्ती काल में चल रहा था उसे देखने तथा समझने का अवसर विज्ञान ने प्रदान किया । मानव ने उन अत्याचारों की चुनौती दी । इस प्रकार मानवता पर आधारित सामाजिक नीति का आविष्कार परवर्ती काल में हुआ । मनुष्य ने कोरी भावुकता को छोडकर बुद्धि का आश्रय लिया ।

विज्ञान ने सुदूर देशों को निकट लाया । विभिन्न जन समूहों की संस्कृतियों का मेल-मिलाप संभव हुआ । दूसरे देशों की संस्कृतियों की कसौटी पर हम अपनी संस्कृति का मूल्यांकन कर पाए । इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था, धर्म, आचार-विचार, अंधविश्वास आदि विभिन्न क्षेत्रों के संबंध में जो गलत धारणायें प्रचलित थीं उन्हें सम्यक् दृष्टि से देखने का अवसर उपलब्ध हुआ । मनुष्य पश्चिमी सभ्यता तथा संस्कृति की ओर आकर्षित हुए ।

मार्क्स, फ्रायड जैसे विद्वानों ने परंपरागत नैतिकता के ढाँचे को ही बदल दिया । यौन संबंधों के संबंध में जो मान्यताएँ भारत में प्रचलित थीं, उनमें बहुधा मूल्यहीन हो गयीं । विवाह-पूर्व यौन संबंध स्त्री के संदर्भ में अधम्य माना जाता था । लेकिन पुरुष की ऐसी हरकतों को कोई परवाह नहीं की जाती थी । इस स्थिति का परिवर्तन अनिवार्य था । स्वातंत्र्योत्तर युग में यह नैतिक दृष्टिकोण बदल गया । नैतिक मूल्यों के सामने सभी व्यक्ति तुल्य हो गए हैं । वहाँ लिंग भेद या वर्ग भेद का आज कोई स्थान नहीं है ।

दार्शनिक परिवर्तन

दर्शन किसी जनसमूह की संस्कृति की सत्ता है । इसीलिए किसी भी प्रसंग में आधारभूत दर्शन का बदलना असंभव नहीं है तो कठोर ज़रूर है । कई हज़ार पुराना है भारतीय दर्शन । ऐसे दर्शन की जडों का हिलना आसान नहीं है । दर्शन हमेशा स्थिर रहता है । लेकिन उसमें परिष्कार संभव है । अर्थात् दर्शन के विकास की संभावना रहती है । राजनैतिक, आर्थिक तथा अन्य सभी क्षेत्रों में परिवर्तन होते समय भी भारतीय दर्शन अटल रहा । इस बात में अपवाद बस इतना है कि साम्यवादी दर्शन के प्रचार ने मनुष्य की मान्यताओं को एक हद तक बदल दिया है ।

यह सच है कि भारत में कुछ लोगों ने मार्क्सवाद को अपना आदर्श बनाया । लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि भारतीय दर्शन पर संपूर्णत: इसका प्रभाव पडा हो । कैसा भी प्रभाव पडा हो लेकिन भारतीय दर्शन का पूर्णत: कायापलट किसी दूसरे दर्शन के वश की बात नहीं है । कहने का मतलब यह है कि भारतीय दर्शन ने प्रत्येक तूफान के सामने अपनी अस्मिता बनाए रखी है ।

भारतीय जन जीवन को प्रभावित करनेवाले अन्य दर्शन

साम्यवाद के अलावा व्यक्तिवाद, अस्तित्ववाद आदि अनेक पश्चिमी विचारधाराओं ने भारतीय जनजीवन को प्रभावित किया है । इन विचारधाराओं का विकास पश्चिमी जीवन की पृष्ठभूमि पर रहा है । पश्चिमी जीवन का गहरा प्रभाव भारतीय जीवन पर भी पडा है । इसलिए उक्त विचारधारायें आधुनिक भारतीय जीवन के संदर्भ में भी सही है । पश्चिमी जीवन तथा भारतीय जीवन में अब इतना ही अंतर है कि जो परिवर्तन पश्चिम में होता है वह भारत में कुछ समय बाद होता है । इसका मतलब यह भी है कि भारतीय जीवन एक कृत्रिम जीवन शैली को ढो रहा है । इसलिए इसकी आंतरिक प्रतिक्रिया पश्चिम की अपेक्षा **तीव्रतर होती है** । भारतीय जीवन इस प्रकार एक संकट का सामना कर रहा है ।

गांधी दर्शन

स्वतंत्रता के पूर्व भारत के सामाजिक क्षेत्र में गांधीजी के आदर्शों का प्रभाव सर्वाधिक रहा था । जब दुनिया भर के देशों ने रक्तसिंचित आंदोलन के फलस्वरूप स्वतंत्रता पायी, भारत का स्वाधीनता आंदोलन अहिंसा पर अधिष्ठित था । इस अपूर्व आंदोलन के संचालक महात्मागांधी थे । भारत की जनता ही नहीं दुनिया भर की जनता इस विचित्र आंदोलन का निरीक्षण कर रही थीं । कुछ ही समय के अंदर गांधीजी लोकप्रिय हो गये । ललित जीवन और उच्च विचार जो उनका आदर्श था, वह उनकी जीवन शैली भी थे । भारत के बहुसंख्यक लोग उसकी ओर आकृष्ट हुए । गांधीजी के सिद्धांत भारतीय धर्म तथा संस्कृति के अनुकूल थे । अनास्था, भय, कुंठा, निराशा आदि से ग्रस्त मनुष्य को गांधीजी के आदर्श, आश्रय बन गए । इसलिए ये आदर्श, युग की माँग थी ।

मानवतावाद का महत्त्व

पुराने समय में मनुष्य के सारे क्रियाकलापों का नियंत्रण धर्म करता था । लेकिन धर्म ने मनुष्य को धोखा दिया । अथवा यों कहिए कि धर्म को मनुष्य ने मनुष्य के प्रति अत्याचार करने का साधन बनाया । इसी कारण धर्म अपने लक्ष्य से हट गया । धर्म का बुनियादी लक्ष्य मानवता ही था, उसका आधार भी । जब धर्म अपने रास्ते से बिगडने लगा । सामान्य जनता उसके प्रति विरक्त हो गयी । मानवतावाद की प्रासंगिकता इसी संदर्भ में है ।

भारतीय संस्कृति

संस्कृति का संबंध हमेशा मनुष्य से है । किसी मानव-समाज की जीवन पद्धति को मोटे तौर पर संस्कृति कहलाती है । जीवन-दर्शन, धर्म, प्रथाएँ, कला, साहित्य इत्यादि मनुष्य को पशु से अलग रखनेवाले जो भी आंतरिक तत्व होते हैं वे संस्कृति के भिन्न-भिन्न पहलू हैं ।

दुनिया की प्राचीनतम संस्कृतियों में भारतीय संस्कृति की गणना होती है । भारतीय संदर्भ में संस्कृति का धर्म के साथ प्रगाढ संबंध होता है । क्योंकि भारत में नृत्य, नाटक, साहित्य इत्यादि का विकास मंदिरों से जुडकर हुआ करता था । आज भी यह कथन सच है । कुछ राजा-महाराजाओं के दरबारों ने भी सांस्कृतिक कार्यकलापों को प्रोत्साहित किया ।

बंद कमरे में नई रोशनी के समान पश्चिमी संस्कृति भारत में घुस आयी । किसी दूसरी संस्कृति को कसौटी पर जब भारतीयों ने अपनी संस्कृति को देखा तो अपनी गलतियाँ स्पष्ट दिखाई देने लगी । जब कभी संस्कृतियों का मिलन होता है तब उनका विकास संभव होता है । भारतीय

संस्कृति का सम्मिलन अनेक संस्कृतियों के साथ हुआ है । इस प्रकार हमारी संस्कृति का काफी विकास भी हुआ है ।

सांस्कृतिक सम्मिलन के अवसर पर सांस्कृतिक ह्रास तथा कभी-कभी संकट भी उत्पन्न हो सकती है । जब किसी विदेशी संस्कृति से हम अपनी संस्कृति के अनुकूल तत्वों को ग्रहण करते, तब तक किसी ह्रास या संकट का भय नहीं हो सकता । लेकिन जब अनमेल तत्वों को स्वीकृति दी जाती तभी संकट की नौबत आ जाती है । "पश्चिम" और "पूरब" शब्दों में जितना अंतर है उतना ही अंतर उनकी संस्कृतियों में भी होती है । पश्चिम के कुछ तत्व पूर्व के स्वीकारने योग्य ज़रूर हैं लेकिन कुछ ऐसे तत्व होते हैं जिनको अपनाना अपनी संस्कृति को खतरे में डालना है ।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में सांस्कृतिक परिवर्तन

स्वातंत्र्योत्तर भारत की एक प्रमुख प्रवृत्ति है आधुनिकीकरण । क्या हमारा आधुनिकीकरण सही दिशा में है - इस सवाल का जवाब कठोर होने की संभावना अधिक है । यहाँ जो हो रहा, वह क्या आधुनिकीकरण है या पश्चिमीकरण ? इसका सही जवाब पश्चिमीकरण ही होगा । आज भारतीय पश्चिमी सभ्यता को अपनाना चाहता है । रहन-सहन, वेश-भूषा, आचार-विचार, दर्शन, भाषा, कला आदि सभी पहलुओं की दृष्टि से भारतीय पश्चिम दिशा में अग्रसर है । हमें सोचना पडता है कि क्या यह हमारी संस्कृति की प्रगति है या अवनति । संस्कृति गतिशील होती है । लेकिन उसके परिवर्तन का आवश्यक नियंत्रण अनिवार्य है ।

सांस्कृतिक परिवर्तन अच्छे तथा बुरे तत्वों के कारण संभव हो सकता है । भारतीय संदर्भ में दोनों प्रकार के तत्वों का समावेश हुआ है ।

जिस प्रकार भारत की संस्कृति ने इस परिवर्तन से लाभ उठाया है उसी प्रकार उसे संकट का सामना करना भी पड रहा है ।

स्वातंत्र्योत्तर युगीन हिन्दी उपन्यासों में समसामयिक भारतीय परिवेश का प्रभाव

साहित्य सचमुच सामाजिक जीवन की हूबहू अभिव्यक्ति है। समाज की गतिविधियों का सीधा प्रभाव साहित्य पर पडता है, क्योंकि साहित्यकार अपने लेखन की सामग्री समाज से ही जुटाता है । स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास में भी समसामयिक गतिविधियों का सच्चा चित्रण मिलता है । सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में जो ज़बर्दस्त बदलाव भारतीय समाज में हुआ उसका चित्रण उस समय के उपन्यासों में उपलब्ध होता है ।

सामाजिक परिवेश का प्रतिफलन

जैसे कहा गया है, आलोच्य काल में समाज की अपेक्षा व्यक्ति प्रमुख रहा है । इस परिवर्तन के दौरान भी पुरुष का प्रभुत्व बरकरार रहा । इस स्थिति की प्रतिक्रिया नारी की ओर से ज़रूर हुई । "ग्यारह सपनों का देश" में कुंतल अपने पति के सम्मुख अपने स्वतंत्र अस्तित्व की घोषणा करती है -"मैं तुम्हारे कहे नहीं करूँगी । जब मन से उपजेगा तब करूँगी । मैं स्वतंत्र नारी हूँ ।"[1] कुंतल की घोषणा में युगों पुरानी दमित व्यक्तित्व के विस्फोट की आवाज़ मुखरित है । पति के सम्मुख गुलाम के बदले एक समकक्ष

---

1. धर्मवीर भारती ग्यारह सपनों का देश

व्यक्ति के रूप में खडे होने की उसकी इच्छा यहाँ अनावृत हुई है ।

पारिवारिक ढाँचे का विघटन भी इस काल में दिखाई पडता है । संयुक्त परिवार प्रणाली निरर्थक लगी । व्यक्ति को महसूस हो रहा था कि "दुनिया खामख्वाह संयुक्त परिवार की लाश ढो रही है । संयुक्त परिवार मर गया । इन हालतों में संयुक्त परिवार अब चल नहीं सकता ।"[1] किसी "कर्ता" के नीचे, उस कर्त्ता की इच्छा-अनिच्छाओं के अनुसार जीवन बिताना किसी व्यक्ति से संभव नहीं हो सकता । खुद "कर्ता" बनने की इच्छा व्यक्ति में प्रबल हुई थी । अणु परिवार के सृजन के साथ वह साकार हो गयी।

नारी की अस्मिता

भारतीय समाज में व्यक्ति का, विशेषकर स्त्री का अविवाहित रहना असंभव माना जाता था । लेकिन नई पीढी उसे संभव मानती है । यह संघर्ष "घेरे से बाहर" में चित्रित है । कुमार की माँ व्याह को अनिवार्य मानती है । लेकिन यों कहकर कुमार उसका खंडन करता है कि "क्या हर आदमी केलिए शादी करना ज़रूरी है ? क्या कोई ऐसी ही नहीं रह सकता ?"[2] युवकों में ही नहीं युवतियों में भी यह धारणा फैली हुई है । "इंसान" उपन्यास की कमला विवाह संस्था का विरोध करती हुई कहती है - "मैं कहती हूँ कि विवाह की आवश्यकता ही क्या है ? क्या विवाह के बिना समाज का कार्यक्रम नहीं चल सकता ? मित्रता के नाते क्या दो व्यक्ति एक साथ जीवन नहीं बिता सकते ?"[3]

---

1. राजेन्द्र यादव, सारा आकाश, पृ. 209.
2. द्वारका प्रसाद, घेरे से बाहर, पृ. 7.
3. यज्ञदत्त शर्मा, इंसान, पृ. 67.

राजनीतिक क्षेत्र

भ्रष्टाचार से प्रदूषित वातावरण स्वातंत्र्योत्तर राजनीतिक क्षेत्र की विशेषता है । चुनाव जनतांत्रिक शासन की अनिवार्य शर्त होती है । चुनाव लडने केलिए भारी खर्च करना पडता है । उस केलिए नेता भ्रष्टाचार के द्वारा धनार्जन करते हैं । अब राजनीति सबसे लाभकारी व्यापार हो गयी हैं । "मछली मरी हुई है" में इस तथ्य को यों प्रस्तुत किया गया है - "जनता के वोट खरीदे जाते हैं । राजनीतिक पार्टियाँ खरीदी जाती हैं । एम.एल.ए. और एम.पी. बिकते हैं । मिनिस्ट्री बिकती है ।"[1] इस प्रकार जनतंत्र का लक्ष्य भी मिट्टी में मिल जाता है ।

हर पाँच साल में चुनाव प्रक्रिया से गुज़रते भारत में "चुनाव" एक सार्वजनिक बीमारी बन गयी है । "भूदानी सोनिया" में यों कहा गया है कि यह भी एक दिमागी बीमारी है जो देश के अनगिनत घरों को हर पाँच साल बाद तबाह करके घर देती है ।"[2] चुनावों पर जो खर्च होता है उसे वसूल करने केलिए नेता रिश्वत लेने लगते हैं । अतः "देश में रिश्वतखोरी, चोर बाज़ारी, षड्यंत्र, डाकेजनी, अव्यवस्था, भुखमरी और भ्रष्टाचार बढता जा रहा है ।"[3] नेताओं को कथनी और करनी में आकाश-पाताल का अंतर हो गया है । वे "एक ओर तो संत विनोबा के चरणों में भूमि का दान-पत्र अर्पित करते हैं और दूसरी ओर हरिजन-खेत-मज़दूरों की झोंपडियाँ हाथियों से उजडवाते हैं ।"[4] किसी अपवाद के बिना सभी पार्टियों पर बेईमानी का

---

1. राजकमल चौधरी, मछली मरी हुई है, पृ. 138.
2. भूदानी सोनिया, पृ. 49.
3. उदयास्त, पृ. 186.
4. हीरक जयंती, पृ. 50-51.

कलंक लग गया है । अमृतलाल नागर ने "बूँद और समुद्र" में इस बात का उल्लेख किया है "आज इस देश में क्या कांग्रेस, क्या सोशलिस्ट पार्टी, कम्यूनिस्ट पार्टी, जनसंघ, हिन्दू महासभा आदि जितनी भी राजनीतिक पार्टियाँ हैं, सब अधिकांश में एक-से -एक बढकर बेईमान, क्षुद्र आकांक्षाओं वाले जाल-साज, दंभी और मगरूरों द्वारा अनुशासित हैं ।"[1] इसलिए ईमानदार व्यक्तियों का जीना दूभर हो गया हैं । जैसे, "ग्यारह सपनों का देश" में उल्लिखित है - "आज यदि जीवित रहना हैं तो झूठ बोलो, ऊपर से उजले रहो ।"[2]

भारत विभाजन

भारत का भारत और पाकिस्तान के रूप में जो विभाजन हुआ वह आलोच्य काल की एक प्रमुख घटना थी । उस अवसर पर ढेर सारी अमानवीय घटनाएँ घटित हुई । प्राय: सभी सामयिक उपन्यासकारों ने उन घटनाओं का जीवंत चित्रण अपने उपन्यासों में किया है । अमृतराय के "बीज" का एक प्रसंग इस प्रकार है - "कहीं दीवाली सज रही थी, कहीं होली जल रही थी । मकानों की जिस्मों की, आबरुओं को, पेट्रोल छिडककर घरों को आग लगाई जा रही थी, उस आग में औरत और मर्द, बुड्ढे और जवान और बच्चे सब भुन रहे थे, भुने जा रहे थे.....।"[3]

साँप्रदायिकता को स्वतंत्र भारत की सबसे बडी अभिशाप मानी जा सकती है । भैरव प्रसाद गुप्त ने अपने उपन्यास "सती मैया का चौरा" में इस तथ्य की अभिव्यक्ति दी है । वे कहते हैं -"ये मजहब, ये धर्म,

---

1. अमृतलाल नागर, बूँद और समुद्र, पृ. 79.
2. धर्मवीर भारती, ग्यारह सपनों का देश, पृ. 49.
3. अमृतराय, बीज, पृ. 300.

जिनके प्रवर्तक संसार के सर्वश्रेष्ठ मनुष्य थे, जिनका उद्देश्य मानवता को ऊँचा उठाना था..... आज उनकी आड में क्या-क्या अनाचार हो रहे हैं, कैसे-कैसे अत्याचार जोडे जा रहे हैं, किस तरह एक दूसरे के दिल में एक दूसरे को शत्रु बनाया जा रहा है ।"[1]

आर्थिक वातावरण

भारत के स्वतंत्र होने के बाद आर्थिक वातावरण में कोई नींवाधार परिवर्तन नहीं हुआ था । मज़दूर-मालिक की खाई चौडी ही बनी रही । "बलचनमा" में नागार्जुन ने इस बात को अभिव्यक्त किया है -"भूख के मारे, दादी और माँ आम की गुठलियों का गुदा चुर-चुरकर फांकती थी, यह भी भगवान ठीक ही करते थे ? और मालिक लोग कनकजीन और तुलसी-फूल के खुशबूदार भात, अरहर की दाल, मरबल की तरकारा, घी, दही, चटनी खाते थे सो यह भी भगवान की ही लीला थी ।"[2] लेकिन शायद मार्क्सवाद के प्रभाव के कारण मज़दूर-मानसिकता में फरक पडा है । "मैला आंचल" का एक प्रसंग इस प्रकार है -"ज़मीन किसकी ? जोतनेवालों की । जो जोतेगा वह बोएगा, जो बोएगा वह कटेगा । कमानेवाला खाएगा ।"[3]

अमीर-गरीब का, स्वातंत्र्योत्तर काल में भी शोषक-शोषित का ही संबंध रहा है । "हीरक जयंती" के रिक्शा का मालिक नए-नए रिक्शे खरीद लेता है । लेकिन रिक्शा चालक की स्थिति दिन-ब-दिन दयनीय

---

1. भैरव प्रसाद गुप्त, सती मैया का चौरा, पृ. 50.
2. नागार्जुन, बलचनमा, पृ. 17.
3. फणीश्वरनाथ रेणु, मैला आंचल, पृ. 126.

होती जा रही है -"रिक्शों की तादाद पचास से ऊपर हो गयी है । जो उन्हें खींचते हैं उनकी फटी कमीज़ों के अंदर से अब पीठों के अधिक हिस्से दिखाई दे रहे हैं ।"[1]

सांस्कृतिक क्षेत्र

भारतीय संस्कृति को धर्म-केंद्रित माना जा सकता है । क्योंकि भारत के संदर्भ में संस्कृति के प्राय: सभी पहलू धर्म से जुड़े हुए हैं और धर्म के सभी पहलू संस्कृति से । इसलिए ईश्वर पर विश्वास रखना सामान्यत: भारतवासी का धर्म माना जाता है । आधुनिक काल में इसमें बदलाव हुआ है । युवा मानस ने इस मान्यता को निरर्थक ठहराया है । इस बदलाव को यज्ञदत्त शर्मा ने अपने "इंसान" उपन्यास में चित्रित किया है । नास्तिक कमीला का कहना है -"नौनसेंस, खुदा । खुदा क्या ? आज़ाद साहेब आपके अंदर भी यह दकियानूसी न जाने कब जाएगा । जहाँ तनिक भावुकता की बात हुई कि, बस खुदा और अल्लाह का आश्रय खोजने लगते हों । मैं कहती हूँ कि यह सब गधापन है, जहालत है, कैसा खुदा, किसका खुदा, खुदा आखिर है क्या बला ? सब व्यर्थ की बकवास है ।"[2]

नैतिक दृष्टि में परिवर्तन

पुरुष और स्त्री के प्रति समाज में जो अलग अलग नैतिक दृष्टिकोण रहा था उसमें परिवर्तन आ गया । "नदी के द्वीप" की रेखा, "गर्मराख" की सत्या आदि पात्रों के माध्यम से इस परिवर्तन को स्पष्टत:

1.हीरक जयंती, पृ. 73.

2. यज्ञदत्त शर्मा, इंसान, पृ. 163.

उभारा गया है । रेखा गर्भपात करती है । और उसके लिए वह कर्म नैतिक ही है । "अमृत और विष" की निन्नी विवाह के पूर्व अवैध गर्भधारण करके उस "अवैध धारणा" को गलत साबित करती है ।

स्वातंत्र्योत्तर युग संपूर्ण परिवर्तन का युग माना जा सकता है । सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक व राजनीतिक आदि सभी क्षेत्र उस परिवर्तन की लहर से प्रभावित रहे । युगीन उपन्यासकारों ने समय की इन गतिविधियों की स्पष्ट अभिव्यक्ति भी दी । इस दृष्टि से कोई भी साहित्यकार अपवाद नहीं रहा है ।

स्वातंत्र्योत्तर युग और प्रभाकर माचवे

असंतोष, निराशा, कुंठा, एकाकीपन आदि का प्रतिफलन स्वातंत्र्योत्तर युगीन उपन्यासों में हुआ है । यह इस काल के जनजीवन की विशेषता है । आमूल परिवर्तन का यह काल, युग-संधि का रहा था । इस संधिकाल का जीवंत चित्रण माचवे के उपन्यासों में मिलता है ।

समाज के विभिन्न स्तर के लोगों को पात्र बनाकर उन्हीं के माध्यम से उस समाज की स्थिति का चित्रण माचवे करते हैं जिसका वे प्रतिनिधित्व करते हैं । "किशोर" का किशोर अपने समाज की परिवेश की व्याख्या करता है । "परंतु" के अमिय, अविनाश, हेम आदि अपने-अपने दृष्टिकोण से समाज को देखते हैं । दृष्टिकोण चाहे अनेक हो, लेकिन सभी के

विचार अंशत: समाज की असली स्थिति को प्रकाश में लाते हैं । "किशोर" की भूमिका में माचवे अपने विचार स्पष्ट करते हैं । वे कहते हैं कि "किशोर" में चित्रित "विद्यार्थी आंदोलन एक आधार मात्र है । व्यापक रूप से समाज में बदलते वर्ग-संबंधों पर इसमें विचार किया गया है । बुद्धि जीवियों और तथाकथित नेताओं के खोखलेपन पर टिप्पणी और व्यंग्य भी है ।"[1]

प्रत्येक स्तर की जनता की समस्याओं का चित्रण माचवे ने किया है । निम्नस्तरीय शहरी जीवन को कलकत्ता शहर के संदर्भ में उन्होंने चित्रित किया है -"एक ओर नाली बह रही है, पास ही कूड़े-करकट का ढेर जमा है, कुत्ते वहीं जूठी पतलों को नोंच खसोट में लगे हैं । पास ही म्युनिसिपालिटी का नल है, जिस पर कई नौकरानियाँ और नौकर अपने-अपने बर्तन लिये जमा है ।"[2] इसके साथ उच्चस्तरीय शहरी जीवन के भी अनेक चित्र उन्होंने अंकित किया है । ग्राम्य जीवन के अनेक प्रमुख पहलू माचवे के कथ्य का मर्म बन गए हैं । जन जीवन की सामयिक गतिविधियों को लेखक ने अपनी रचनाओं में उचित स्थान दिया हैं ।

स्वातंत्र्योत्तर राजनीतिक क्षेत्र की ढेरों कुरीतियों को प्रभाकर माचवे ने प्रसंगानुकूल प्रस्तुत किया है । किशोर, द्रुत, परंतु, एकतारा, दशभुजा, द्वाभा आदि उपन्यासों में ऐसे अनेक प्रसंग उपलब्ध हैं । स्वतंत्रता के उपरांत भारतीय राजनीतिक क्षेत्र कलंकित हो गया । इस कलंकित अवस्था की सुन्दर अभिव्यक्ति माचवे के उपन्यासों में उपलब्ध होते हैं । लालची राजनीतिज्ञों को सेठ लक्ष्मीचंद अपने पैसों से खरीदते हैं ।[3] लक्ष्मीचंद के हाथ

---

1. किशोर, लेखक का वक्तव्य (भूमिका), प्रभाकर माचवे ।
2. परंतु, प्रभाकर माचवे, पृ. 107.
3. वही, पृ. 99-101.

में राजनीति एक साधन बन जाती हैं । "दशभुजा" की "अदिति जिस मुहल्ले में रहती थी वहाँ सत्ताधारी पक्ष का एक कार्यकर्ता रहता था । हम उसका नाम "टी" रखें ।..... पर उसका जीवन-निर्वाह का साधन क्या था ? वह इतने ठाठ से कैसे रहता था - यह कोई नहीं पूछता था । हाँ बड़े-बड़े लोगों को जानता है । चाहे जिस वक्त, चाहे जिसका, चाहे जो काम करा देता है, यह बात सच थी ।"[1] राजनीतिकों की समाज सेवा के बावजूद गरीब की हालत नहीं सुधरी । "नेता लोग आते, व्याख्यान देकर चले जाते । फूल-माला, पैम्फलेट, शब्द जो बाढ की तरह से आते और निकल जाते । मज़दूरों की दुनिया उसी तरह बिलबिलाती रहती, ताडी उसी तरह बिकती रहती, खान उसी तरह डंडा पीटता रहता । मज़दूर औरतों की अस्मतें पान की पीक की तरह खुले आम सडकों पर कलंकित होती, मज़दूरों के बच्चे उसी तरह बिना दवा-दारु के मर जाते ।"[2]

देश-प्रेम पर आधृत राजनीति आज नहीं रही । आज प्रमुखता स्वार्थ लाभ की है । यह विचार मार्मिकता के साथ माचवे के उपन्यासों में अभिव्यक्त है ।

माचवे के उपन्यासों में सामयिक आर्थिक तथा सांस्कृतिक स्थिति का भी उभार हुआ है । पिछडे हुए एक गाँव का सुन्दर चित्र सांचा में हैं - "मालवे का काली मिट्टीवाला छोटा-सा गाँव । वही भेरु का लडका केशो बचपन से बडा हुआ ।.... बाप ने कुछ ज़मीन की काश्त

---

1. दशभुजा, प्रभाकर माचवे, पृ. 72.
2. सांचा, प्रभाकर माचवे, पृ. 58.

बड़ी मेहनत से, अपने पसीने को गाढ़ी कमाई से कर ली थी ।..... केशो ने ऐसे-ऐसे दिन बिताए हैं कि सूखे-चने फाँककर ऊपर से बावड़ी का गड्ढुआ-भर ठंढा पानी पीकर रह गया है.....।'[1]

सामयिक सांस्कृतिक परिवर्तन का विश्लेषण बड़ी संवेदनशीलता के साथ माचवे के उपन्यासों में उपलब्ध होता है । आधुनिकीकरण के नाम पर जो पश्चिमीकरण भारत में हो रहा है उसका नंगा चित्र उन्होंने प्रस्तुत किया है । धनार्जन के लक्ष्य से अपने परिवार को भी भूलकर व्यवसाय में लगे पति, अनुकूल मौके पर किसी दूसरे पुरुष के साथ अपने चरित्र को भंग करनेवाली पत्नी, सभ्यता के नाम पर चलनेवाली सांस्कृतिक अवहेलनाएँ इत्यादि अनेक महत्वपूर्ण पहलू उनके उपन्यासों में उपलब्ध हैं ।

---

१. सांचा, प्रभाकर माचवे, पृ. 2-3.

अध्याय : तीन

प्रभाकर माचवे का सामाजिक उपन्यास

प्रभाकर माचवे के संपूर्ण साहित्य की भावभूमि आधुनिक मध्यवर्गीय जीवन की जटिल समस्याओं पर आधारित है । चाहे कविता हो या उपन्यास या कहानी, उनकी विषयवस्तु यही है ।

पश्चिमी प्रभाव के कारण जो सांस्कृतिक संघर्ष हमारे समाज में संभव हुआ है, वही आधुनिक जीवन की जटिलता का कारण हो सकता है । "एक नवीन सामाजिक वर्ग.... पाश्चात्य भावों, आचार-विचारों तथा रहन-सहन से प्रभावित होता जा रहा था । कालान्तर में वकील, अध्यापक, व्यापारी वर्ग, सरकारी कर्मचारी और उद्योगपति इसी पाश्चात्य शिक्षा की उपज थे ।..... पाश्चात्य विचारों के आगे भारतीय चिन्तन ने अपने हथियार डाल दिया ।"[1] भारतीय संस्कृति जो आध्यात्मिकता पर आधारित है, उसको पश्चिमी भौतिकतावादी संस्कृति ने संकट में डाल दिया । "प्राच्य और पाश्चात्य संस्कृति के आदान प्रदान में मूल्य अन्तर्विरोध की स्थिति आई है । दोनों संस्कृतियों के मूल्य भिन्न-भिन्न हैं । जब दोनों संस्कृतियों के प्रयोगशील विचारों के सामंजस्य नहीं रहता है तो संघर्ष की स्थिति आती है ।"[2]

मनुष्य अकेलापन का इतना गहरा अनुभव करने लगा कि वह उससे बचने का मार्ग भी ढूँढ नहीं पा रहा है । उसके मन में जड़ता उत्पन्न हुई, जिसके फलस्वरूप एक किस्म के घुटन और संत्रास उत्पन्न हुए । प्रत्येक

---

1. डा. डी,डी. तिवारी, हिन्दी उपन्यास स्वातंत्र्य संघर्ष के विविध आयाम, पृ. 20.
2. डॉ. हेमेन्द्र कुमार पानेरी, स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास मूल्य-संक्रमण, पृ. 118.

व्यक्ति की मानसिकता ऐसे भावों से भर गई । इनके अनेक प्रतिनिधि माचवे के उपन्यासों द्वारा जीवन्त हो उठे हैं ।

माचवे का सामाजिक दृष्टिकोण

माचवे समाज को खुली आँखों से देखते हैं । रोज़मर्रा ज़िन्दगी की छोटी-छोटी घटनाओं तक का मार्मिक वर्णन माचवे जी के उपन्यासों में उपलब्ध है । इसलिए माचवे के पात्र एक विशेष कोटि के अंतर्गत नहीं आते । जीवन के प्रत्येक स्तर के पात्र इन उपन्यासों में देखे जा सकते है । वे समाज के हर कोने में उपलब्ध है । उनके प्रारंभिक उपन्यास से लेकर सभी में यह विशेषता दिखाई पडती है । जीवन में ऐसी कोई घटना नहीं है, जो माचवे की दृष्टि में अप्रमुख हो । क्योंकि किसी भी व्यक्ति का व्यक्तित्व उसके प्रत्येक चेष्टा और कार्य पर निर्भर रहता है । यह बात माचवे के इस कथन में स्पष्ट होती है -"मैं अपने आप को न तो सामाजिक सोद्देश्यता से बँधा लेखक मानता हूँ, न व्यक्तित्व की खोजवाला लेखक । मेरा उपन्यास लेखक इस दृष्टि से अधिक आधुनिकताबोध लिए हुए हैं । मैं मनोविज्ञान को भी अन्तिम नहीं मानता, न मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद को । मैं मनुष्य के शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार, सारी तन्मात्राओं को प्रकृति-पुरुष के चिरंतन द्वन्द्व का प्रकट स्फुलिंग मानता हूँ ।"[1]

माचवे हमारी संस्कृति और परंपरा के समर्थक है । आधुनिक व्यक्ति इन संस्कृति और परंपरा को वाँछित मूल्य नहीं देता है । माचवे ने

---

1. प्रभाकर माचवे, पुरुषोत्तम दुबे द्वारा उद्धृत, व्यक्ति चेतना और स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास, पृ. 340.

अपने प्राय: सभी उपन्यासों में इस मूल्य विघटन के प्रति विद्रोह प्रकट किया है । इसका मतलब यह नहीं कि माचवे कठोर परंपराबद्ध व्यक्ति हैं, बल्कि वे विरासत में मिले सांस्कृतिक मूल्यों को बनाए रखना चाहते हैं । इस आशा से हटकर जब समाज चलने लगता है तब सहजत: समस्याएँ आ खडी हो जाती हैं । इन समस्याओं को हल करने का प्रयास माचवे अपने उपन्यासों द्वारा करते हैं - "मैं सिर्फ कहानी कहकर मनोरंजन करने केलिए नहीं लिखता । मेरे मन में कुछ प्रश्न उमड़ते-घुमड़ते रहते हैं, उन्हीं को हल करने का प्रयास में सारा मेरा लेखन है ।"[1]

माचवे के उपन्यासों में तरह-तरह की समस्यायें चित्रित हैं । इनमें वैयक्तिक और सामाजिक समस्यायें शामिल हैं । संस्कृति, धर्म, राजनीति, साहित्य, पत्रकारिता, आदर्शवाद आदि प्रत्येक क्षेत्र की समस्या उनकी तूलिका से प्रकाश में आ गयी है । अपने पात्रों के द्वारा उन समस्याओं के बारे में अपना, दृष्टिकोण माचवे ने प्रकट किया है ।

नारी समस्या

भारतीय समाज में नारी का स्थान पुरुष की अपेक्षा अधिक नीचा है । माचवे के शब्दों में "भारत में स्त्री भोग्या है, जिस पर पुरुष का एकाधिकार है ।"[2] पुरुष केन्द्रित समाज में पुरुष के तुल्य स्त्री का विकास होना असंभव है । पुरुष की प्रमुखता के पीछे आध्यात्मिकता के आधार पर

---

1. प्रभाकर माचवे, दो शब्द, अनदेखी
2. प्रभाकर माचवे, एक तारा, पृ. 46.

ड़े समाज का प्रमुख स्थान है । धर्म के अनुसार स्त्री को घर के चाहारदीवारी
ं बन्द रहना पडता है । इस प्रकार पुरुष ने स्त्री पर अपना अधिकार
ासानी से जमाया । पुरुष, स्त्री पर किसी भी प्रकार की मनमानी कर
कता है ।

"दाभा" में चर्चित मुख्य विषय पुरुष प्रधान समाज में नारी
की समस्या है । आभा, श्री और सत्यकाम से परित्यक्त होकर "सैनटोरियम्"
में पहुँच जाती है । वह अपने जीवन में आये पुरुषों के चेहरों में एक प्रकार
की समानता देखती है । उसके विचार में सभी पुरुष स्त्री को वासना की
पूर्ति की साधन मानते हैं । आभा की दृष्टि में नियती भी नारी को चैन से
रहने नहीं देती हैं -"..... नारी का जीवन क्या ऐसी ही कोई अंधी गली
है ? नारी क्या निरी "नियतिनटी" के मनमाने खेल की शिकार है ? निरी
एक कठपुतली ।"[1]

मनु महाराज ने भी काफी दूर-अन्दाज़ी से नारी को
पुरुष का गुलाम बना दिया है -

"विशील: कामवृत्तो वा गुणैर्वापरिवर्जित:
उपचर्य: स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पति ।"[2]

§दुश्शील, कामी या दुर्गुणी कैसा भी पति क्यों न हो साध्वी स्त्री को सतत
पति को ईश्वर मानकर पूजना चाहिए ।§

---

1. प्रभाकर माचवे, दाभा, पृ. 5.
2. प्रभाकर माचवे द्वारा उद्धृत, दाभा, पृ. 9.

इससे पता चलता है कि नारी का जीवन पुरुष द्वारा बनाये गये बन्धनों में जकडा रहता है । यह बन्धन उसके व्यक्तित्व के विकास को भी रोकता है । यह इतना खतरनाक है कि समाज के एक आधा हिस्सा अविकसित रह जाता है । समाज को एक शरीर माना जाय तो उस शरीर का कोई आधा भाग ही विकसित हो जाए तो वह कितना बुरा लगेगा । किसी व्यक्ति का शरीर विकसित हो जाय और मानसिक विकास न हो तो उस व्यक्ति को मन्दबुद्धि कहलाता है । समाज के एकांगी विकास भी ऐसी ही है ।

नारी का जीवन निरंतर गतिशील नदी के समान है । वह वापस नहीं लौटती । उसे लौटने का अधिकार भी नहीं है । "क्या नारी और नदी की यही एक-सी गति है ? "शुध दाओ.... शुध दाओ"..... उसके लिए लौटना मना है ।"[1] अर्थात् पुरुष यदि विवाह के बन्धन में पड जाए तो भी वापस लौट सकता है । लेकिन स्त्री इस अधिकार से वंचित है । नारी और पुरुष के जीवन में सबसे बडा अंतर यह है कि नारी का जीवन रोने केलिए और पुरुष का जीवन हँसने केलिए है । इस पर आभा अपना विद्रोह प्रकट करती है - "मनु महाराज ? आपने तो सभी स्त्रियों के भाग्य में एक-सा आँसुओं का दीप जलाने का विधान पत्थर को लकीर की तरह लिख डाला । पुरुष का काम सिर्फ हँसते रहना और पूजा पा लेना ही है क्या ?"[2] यह कोई निरर्थक विचार नहीं है, जो कि वैसे ही टाल दिया जाय । बल्कि सच्चाई की शाब्दिक अभिव्यक्ति है । अपने स्वार्थ की रक्षा केलिए पुरुष ने हमेशा स्त्री को दुख दिया है । "स्त्री के साथ यह सलूक आज से नहीं, राम और

---

1. प्रभाकर माचवे, द्राभा, पृ. 12.
2. वही, पृ. 13.

दुष्यंत और नल और बुद्ध के जमाने से चला आ रहा है । सीता पर कलंक लगाने केलिए रावण का बहाना भी हो सकता है पर शकुन्तला को भूल जाने का और दमयन्ती को जंगल में छाया-सी छोड़ जाने का क्या कारण था ? और यशोधरा ने राहुल को जन्म दिया था, क्या यही उसका अपराध था ? संबोधि प्राप्त करने का क्या यही एक तरीका था ?"[1] यहाँ इतिहास नायकों को प्रस्तुत करके माचवे ने अपना यह विचार प्रस्तुत किया है कि व्यक्ति अपने स्वार्थ लक्ष्य केलिए किसी भी तरह का बहाना बना सकता है । उपर्युक्त महान व्यक्तियों के संबंध में भी यह कथन इस दृष्टि से सही है । क्योंकि उनके जीवन की सफलता के पीछे किसी नारी के त्याग और आत्मबलिदान की भूमिका है । लेकिन नारी के इस आत्मबलिदान के पहलू हमेशा अनदेखे रह जाते हैं ।

दहेज प्रथा

भारतीय परंपरा के अनुसार नारी देवी है । माँ और परिवार का धन है । लेकिन विवाह करते समय पुरुष के मन में धनार्जन का मोह भी होता है । यह परंपरा के विरुद्ध है । लेकिन आज वही परंपरा बन चुका है । यह "दहेज" के सदनाम से जाना जाता है । यदि विवाह के समय वधू के साथ दहेज भी नहीं दिया जाता, तो अक्सर उस स्त्री को काफी दुख और ज्यादतियाँ झेलने पड़ते हैं - "कैसे-कैसे अरमान लेकर ससुर गृह में प्रवेश किया । पर वह तो स्वर्ग के बजाय नरक निकला । सास दहेज और पितृधन और और और लाने केलिए जली कटी सुनाती, अनेक ननदें । उनकी सबकी सेवा करो, सो अलग । सोमनाथ का यह हाल कि क्या कमाता था, किसी को पता नहीं । जो कमाता था वह बाहर ही गवाँ देता था ।

---

1. प्रभाकर माचवे, द्वाभा, पृ. 69.

यारबाशी में, बाद में पता लगा, पीने-पिलाने में.....'[1]

सोम का यह आक्रोश कभी-कभी असह्य हो जाता है - 'घर से इतना सोना क्यों नहीं ले आयी कि जनम-भर खाती रही.....'[2] इन शब्दों में अदिति का दर्द गूँज उठता है । उसके साथ पति का व्यवहार कितना कठिन था, इसका अनुमान इन शब्दों से लगाया जा सकता है ।

'अनदेखी' में माचवे ने कुछ एक दहेज हत्याओं की रिपोर्ट पेश की है । वे घटनायें असम में हुई थी । लेकिन यह सारे देश की समस्या है । दहेज हत्यायें, पति, ससुर से लेकर ससुराल के किसी भी व्यक्ति से की जाती है । उनकी किसी माँग की पूर्ति न करना ही इसका प्रमुख कारण होता है । कहने का मतलब यह है कि आजकल विवाह बंधन की स्थिरता संपत्ति पर आधारित हो गयी है । जो संबंध अर्थाश्रित होता है उसका टूटना सहज और आसान बात है । इसलिए 'रोज़ अखबारों में दहेज न लाने की वजह से स्त्रियों को, नयी बहुओं को जलाने, कहीं-कहीं भूखा मारने, दूसरी मंजिल से नीचे फेंक देने और अनेक प्रकार की यातनायें देने की कहानियाँ पढ़ी जाती हैं। कुछ मामले ही पुलिस तक पहुँच पाते हैं । ज्यादतर लोग इन्हें आत्म-हत्यायें कह देते हैं । और इसमें मानसिक यातनायें जो नववधू को ससुरालवाले, सास-ससुर, ननद, देवर भौजाई और स्वयं पति देता है उनकी तो गिनती ही नहीं। धन का, उपहार में मिलनेवाले ऊपर के पैसे या वस्तुओं का ऐसा लालच और विकराल लोभ सब में घर कर गया है कि गाँव-गाँव में पहले साइकिल नये वर

---

1. प्रभाकर माचवे, दशभुजा, पृ. 12.
2. वही, पृ. 13.

को चाहिए थी, तो उसमें अब ट्रांजिस्टर आ गया । नया सूट और जूते और साफा-पगड़ी और चादर ही काफी नहीं, अब जहाँ बिजली पहुँच गई उसे चाहिए फ्रिज और टी.वी. और वी.सी.आर ।'[1]

वर की ओर से शादी के अवसर पर जो माँगें होती हैं, वह बढ़ती ही जाती है उसमें पढाई का खर्च, विदेश में भेजने का खर्च, ज़मीन या फ्लैट खरीदने का खर्च आदि कुछ भी आ सकता है । यहाँ एक बात स्पष्ट हो जाती है कि हमारी परंपराबद्ध समाज स्त्री को गौण और पुरुष को मुख्य समझता है । माचवे कहते हैं कि 'समाज में स्त्री की इतनी अवनत अवस्था बना देने में हमारी परंपरा हमारे रूढिवादी अंध-धर्म नेता, हमारा सारा सोचने का ढंग बनानेवाली शिक्षा व्यवस्था, यहाँ तक की हमारे राजनेता भी जिम्मेदार हैं ।'[2]

पुरुष-प्रधानता का प्रभाव

पति-पत्नी के संबंध में किसी भी प्रकार का कोई दोष हो, तो पुरुष द्वारा उसे पत्नी के ऊपर लादने का प्रयास हमेशा किया जाता है । 'दश भुजा' में अदिति का कोई बच्चा न हुआ तो सोम का आक्रोश इस प्रकार है -'मैं तुम्हें छोड दूँगा । बेकार का बोझ हो तुम । तुम किसी काम की नहीं । बच्चा भी नहीं पैदा कर सको ।'[3] यहाँ बच्चा न होने का दोष किसी डाक्टर की सलाह के आधार पर ही किसी पर लगाया जा

---

1. प्रभाकर माचवे, अनदेखी, पृ.।।।.
2. वही, पृ.।।।.
3. प्रभाकर माचवे, दशभुजा, पृ.42.

सकता है । लेकिन अक्सर ऐसी अवस्था में पत्नी दोषी ठहरायी जाती है । "तुम ज्यादह पढी-लिखी क्यों नहीं ?", "तुम उस दिन पडोस के उस युवक के साथ हँसकर बोली क्यों ?", "कल तुम्हारे हाथ से दाल में नमक क्यों कम पड गया ?", "कल सबेरे कुंकुम लगाना क्यों भूल गयी ?", "तुम मेरे मित्र जब पीने केलिए आए तो उनके सामने आकर उन्हें गर्म तली हुई आलू की कटलेट क्यों लाकर नहीं दी ?", "तुम ने वह लाल रंग की साडी क्यों नहीं पहनी ?"[1] सोम इन्हीं कारणों से अदिति को छोड देना चाहता था । यहाँ सोम अपनी पत्नी को मात्र एक गुलाम मानता है । अपनी इच्छा के विरुद्ध किसी भी प्रकार की छोटी सी भूल सोम केलिए अपनी पत्नी को छोडने का कारण बन जाता है । इसका असली कारण यह है कि सोम अपनी किसी कमज़ोरी को छिपाना चाहता है । लेकिन उस कमजोरी को स्वीकार करने केलिए वह कभी तैयार नहीं होता । बल्कि, पत्नी के आरोपित दोषों से उसे ओट-लेना ही चाहता है ।

समाज में पुरुष का महत्व अधिक होने के कारण वह नारी से अवांछित लाभ उठा सकता है । "लक्ष्मीबेन" में चित्रित अनेक घटनायें यह साबित करनेवाली है । समाज सेवा करने केलिए जब लक्ष्मीबेन निकली, तब उसे जो कहानी सुननी पडी, वह इस प्रकार है - "एक लड़की थी । नई-नई शादी होकर वहाँ लाई गई । गाँव से शहर में पहली बार । पति बेकार था। उसके बदन पर से एक-एक गहने भी उतारकर ले गया । बेचकर शराब पी गया । वह रोज़ उसे मारता-पीटता था । कहता था - मैके जाकर पैसे लाओ । नहीं तो मैं घर से निकाल दूँगा ।"[2] ऐसी अवस्था में भी पति

---

1. प्रभाकर माचवे, दशभुजा, पृ. 13.
2. प्रभाकर माचवे, लक्ष्मीबेन, पृ. 40.

को छोडकर चले जाना स्त्री केलिए अपराध है । यही सामाजिक व्यवस्था है । पुरुष की मनमानी पर प्रश्न करने का अधिकार स्त्री को नहीं है । एक लडकी की कहानी माचवे ने "लक्ष्मीबेन" में जोड़ी है । नीतू इंटरमीडिएट करनेवाली आधुनिक लडकी थी । वह शाम को देर से अकेली घर लौट आया करती थी । एक दिन एक स्कूटरवाले ने उसकी इज्जत लूट ली । उसका जो बच्चा हुआ वह जन्म के साथ मर गया । और नीतू पागल हो गयी । इस प्रकार के अत्याचारों को कानून के सामने ले जाने केलिए कोई स्त्री तैयार नहीं होती । इस प्रकार पुरुष को ऐसे अत्याचार करने में अधिक सुविधा मिल जाती है ।

सिनेमा तथा होटल के क्षेत्रों में नारी का व्यापार हमेशा चलता है । गाँवों से सुन्दर युवतियों को शहर लाकर पुरुष उन्हें बेच देता है । इसके बारे में भी "लक्ष्मीबेन" में माचवे ने सूचना दी है - "सिनेमा के धंधे में सारे "एक्स्ट्रा" यहीं से भाड़े पर मिल जाते । बड़े होटलों में जो "मांस के दरिया" लहराते, उनकी सप्लाई भी इन्हीं साइफेन्स से होती थी ।"[1]

इस प्रकार पुरुष प्रधानता का जो बुरा प्रभाव हमारे समाज पर पडा है, उस पर माचवे के उपन्यासों में गंभीरता से विचार किया गया है ।

---

1. प्रभाकर माचवे, लक्ष्मीबेन, पृ. 39.

समाज में नारी

भारतीय समाज में नारी का दुख दर्द उसके जीवन के प्रथम क्षण से ही शुरू होता है । जन्म के समय यदि बच्चा हो तो घरवाले खुश होते है और यदि बच्ची हो तो दुखी और नाराज़ । "लक्ष्मीबेन" में ऐसा एक चित्र माचवे की लेखनी से उतर आया है । वह इस प्रकार है - लक्ष्मी अपने विद्यार्थी-दल को लेकर एक झोंपडी में पहुँची । वहाँ एक स्त्री को लड़की हुई थी । हिजड़े आकर दरवाज़े पर नाच रहे थे ; और गरीब से भी अपना टैक्स वसूल रहे थे । घर की बूढी ने कहा - फिर बेटी हुई । मेरी बेटी की तो किस्मत ही फूटी हुई हैं ।"[1] इस प्रकार दुखी होने के अनेक कारण है -"..... लडकी की ज़िन्दगी दोनों तरफ से मुश्किल - शादी हो तो, और नहीं हो तो भी । शादी में दहेज देना पडता है । कर्जा करना पड़ता है । लडकी आखिर पराया धन है ।"[2]

नारी के जन्म के साथ जुडा हुआ यह दुख सामाजिक व्यवस्था के साथ अटूट संबंध रखता है । लडकी के विवाह के समय पर भारी खर्च होता है । किसी सामान्य परिवार के सामने यह एक बडी समस्या है । इससे भी बडी समस्या विवाह के समय तक की उसकी सुरक्षा की है ।

"लक्ष्मीबेन" में माचवे कहते हैं -"यानी आज, 1976 में भी, स्त्रियों को लड़की का जन्म अशुभ लगता है । हद हो गई । और ऐसे

---

1. प्रभाकर माचवे, लक्ष्मीबेन, पृ. 43.
2. वही, पृ. 44.

अज्ञान पीडित घर सैकडों होंगे । यह हमारा "यत्र नार्यस्तु पूज्यंते, रमंते तत्र देवता" वाला देश है ।"[1] नारी मुक्ति के लक्ष्य से इस प्रकार के कार्यक्रम चलाये जाने पर भी यदि नारी अपने अधिकार के अज्ञ है तो इसकी कोई सफलता नहीं होगी । इसके अलावा समाज को भी बदलना होगा । क्योंकि पुरुष की स्वार्थता जन्य व्यवस्था के बदले बिना नारी को व्यक्ति के रूप में समाज स्वीकार नहीं कर पायेगा । इसलिए माचवे की दृष्टि में नारी तथा समाज, दोनों को समान रूप से नारी के अधिकार एवं हैसियत का अच्छा बोध होना चाहिए । तभी नारी मुक्ति का कोई प्रयास सफल होगा ।

"दशभुजा" में अदिति अपने पति द्वारा तिरस्कृत होने के बाद काली माँ से पूछती है : "माँ, क्या स्त्री का एकमात्र जीवन-लक्ष्य बच्चों का लालन-पालन ही है ? या उसे और भी कुछ जीवन में करना है ? उसका अपना एक स्वतंत्र अस्तित्व भी तो है ।"[2] इसके उत्तर में काली माँ कहती है "हाँ, वह बहुत कुछ है ; और कुछ भी नहीं है ।"[3] समाज और परिवार में नारी की असली स्थिति यही होती है । वह परिवार और समाज में एक अवश्य अंग है । और अपेक्षित भी है । "वह बहुत कुछ है", इसलिए कि उसके बिना समाज भी नहीं है । धार्मिक, सांस्कृतिक तथा अन्य सभी क्षेत्रों में उसकी अपेक्षा होती है । लेकिन वह "कुछ भी नहीं है", इसलिए कि पुरुष ने उसके सभी अधिकारों को छीन लिया है । पुरुष, स्त्री की आवश्यकता ज़रूर महसूस करता है, लेकिन उसे प्रकट करना नहीं चाहता । क्योंकि उसका विचार है कि "स्त्री की अनिवार्यता" को स्वीकार करना उसकी अपनी कमज़ोरी को स्वीकार करना है । हमारे प्रसिद्ध साहित्यिकों को उद्धृत करके

---

1. प्रभाकर माचवे, लक्ष्मीबेन, पृ. 43.
2. प्रभाकर माचवे, दशभुजा, पृ. 19.
3. वही

माचवे यह भी सिद्ध करना चाहते हैं कि "कला अंततः काम है ।"[1] कालीदास, कवि मिल्टन, रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि लोकोत्तर साहित्यिकों ने नारी के सौन्दर्य का मोहक वर्णन किया है । जिस समाज में नारी, "वह कन्या, वह माता, वह वधू, सुन्दरी रूपसी उर्वशी है ।"[2] उसी समाज में नारी को "क्लियोपाट्रा के समान रूपोद्धता प्रतिदासर नवीन प्रेमी को तर्पदंश कराकर मार डालनेवाली विषकन्या"[3] माना जाता है ।

नारी के अनेक रूप हम देख सकते है । वह कुलवधू है फिर भी भूख और दारिद्र्य से पीडित होकर दिन दहाडे अपने आपको बेच रही है । "चोरी से नहीं, धोखे से नहीं, खुले आम, केवल छः आने पैसे केलिए, जिसमें वह रोटी भर खा सके.....।"[4] वेश्या वृत्ति में भी वह पेट भरने के साधन की तलाश ही करती है । आधी रात तक सिलाई का काम करके भी वह पेट नहीं भर सकती । ऐसी त्यागी, क्षमा की मूर्ति रूपी उस रूप को अनदेखा करके लोग या समाज नारी का वेश्यारूप अधिक पहचानता है । साहित्यकार की भी रुचि इसी में है ।

"एक तारा" में तारा का विचार भी इससे मिलता जुलता है -"सब कविजन मक्कार है, झूठे हैं । नहीं है नारी लता, नहीं है मोमबत्ती । वह स्वयम अपना अस्तित्व रखती है । वह अग्नि की

---

1. प्रभाकर माचवे, परंतु, पृ. 82.
2. वही
3. वही
4. वही, पृ. 83.

चिनगारी है, वह स्वाहा है । वह सप्तसरिताओं की वेगवान बाढ़ है वह गंगोत्री है, वह मोम और मधु की निर्मात्री मधुमक्खी है, जो कि निरी चींटी की तरह बाहर से जमा कर के अपना घर नहीं बनाती, न निरी मकड़ी की तरह अपने अंतर से बाहर तंतु कात कर जाली बनाती है - वह फूलों से पराग लाती है और उसे अपने मोम से ढककर, जमा कर मधु बना देती है ।"[1]

नारी की शक्तिहीनता का वर्णन करने का शौक प्राय: सभी साहित्यकारों ने प्रकट किया है । इसी पर तारा ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की है । तारा की दृष्टि में नारी कोई दुर्बल जीव नहीं है । उसकी अनंत संभावनायें हैं । वह सृष्टि का माध्यम है । माचवे ने अपना यह विचार तारा नामक पात्र के माध्यम से स्पष्ट किया है । लेकिन नारी स्वतंत्र हुए बिना उसकी संभावनाओं का वांछित विकास असंभव है । नारी हमेशा पुरुष से चिपटकर रहना चाहती है । यही उसके विकास की सबसे बड़ी बाधा है । उसकी अपनी अलग पहचान होनी चाहिए । लेकिन बड़े-बड़े आदर्शवादी भी किसी न किसी तरह इस बंधन में पड़ जाते हैं । इसी कारण तारा पूछती है -"क्या नारी आज के समाज में, यह कभी भी अकेली नहीं रह सकती ?"[2] वह हमेशा पुरुषाश्रित जीव मानी जाती है । इस संबंध में माचवे ने "लापता" में लिखा है - "बाप ने धकेला, वर के पास फेंक दिया । वर ने फेंका, पुत्र के पास रहने लगी - स्त्री को कोई स्वतंत्रता नहीं । वह मानो निरी गेंद है ।"[3] आदि पुरुष मनु ही इस विचार का प्रवर्तक है । उनकी राय में स्त्री की अपनी कोई अस्मिता नहीं है । इसलिए स्त्री को व्यक्ति के रूप में नहीं, बल्कि गुलाम के रूप में रहने का प्रबन्ध उन्होंने किया । इस पर माचवे की प्रतिक्रिया "दाभा" में आभा के माध्यम से व्यक्त की गयी है -"उन्होंने {मनु ने} हमारे देश केलिए कैसी-कैसी भारी शृंखलाएं गढ़ी स्त्री और शूद्र न पढ़ें ।

---

1. प्रभाकर माचवे, एक तारा, पृ. 68.
2. प्रभाकर माचवे, लापता, पृ. 34.
3. वही, पृ. 28.

शूद्र के कानों में वेदश्रुति पड़ जाय तो गर्म सीसा उसमें डाल दिया जाय ।

बीसवीं सदी में भी कई महाभागों के दिमाग के अवचेतन में आप किसी अमीर की कोयला बनी अशर्फियों पर पहरा देनेवाले बूढ़े सांप की तरह फन फैलाये बैठे हो । ओ रूढियों के अंध आदि देवता । तुम "अनंत" हो ।[1]

संभव है कि मनु के इस कथन का मुख्य कारण तत्कालीन सामाजिक गतिविधियां तथा संकीर्णतायें हों । लेकिन उसे आज के ज़माने का नियम बनाना तर्क संगत नहीं लगता । समय के बदलाव का सामयिक नियमों पर प्रभाव पडना चाहिए। लेकिन ऐसे भी कुछ लोग है, जो इन पुराने विचारों के बंधन में जकडे हुए है । वे उन विचारों को संस्कृति का आधार मानते हैं । यह युक्तिसह नहीं हो सकता । क्योंकि सामयिक परिवर्तन की कोई गुंजाइश उसमें नहीं हैं । इस झूठे "कुलीनता के प्रमाण" को छोडने का संदेश माचवे यहाँ देते हैं ।

पारिवारिक विसंगति

आधुनिक युग में परिवार की व्यवस्था तथा परिवारवालों के आपसी संबंधों में काफी परिवर्तन आ गया है । संयुक्त परिवार प्रणाली में परिवार के सदस्यों में गहरा संबंध बरकरार था । हर एक का उससे अलग होना नामुमकिन था । उसका गठन सशक्त धरातल पर होता था । उस परिवार का कोई सशक्त व्यवस्थापक हुआ करता था जिसकी आज्ञा कभी भी टाल दी नहीं जा सकती थी । यह व्यवस्था परिवार के सदस्यों को एक साथ पिरोनेवाले धागे के समान थी । ऐसी सुगठित पारिवारिक व्यवस्था भारतीय संस्कृति का मौलिक स्वरूप था ।

---

1. प्रभाकर माचवे, द्वाभा, पृ. 7.

उपनिवेशवादी पश्चिमी सभ्यता का भारत में प्रविष्ठ होना भारतीय संस्कृति की इस मौलिक परिवार व्यवस्था की जड़ काटना था । भारतवासी पश्चिमी सभ्यता से जल्द से जल्द आकृष्ट हुए । इसके फलस्वरूप वह सभ्यता भारतवासियों में काफी गहराई में उतरने लगी । विराट वट वृक्ष की भाँति जहाँ परिवार की व्यवस्था हुआ करती थी, वहाँ अणु-परिवार ने अपना स्थान जमा लिया ।

संयुक्त परिवार प्रणाली का सबसे बड़ा लाभ यह था कि एक पीढ़ी अपनी संस्कृति और सभ्यता को किसी प्रकार की क्षति पहुँचाये बिना अगली पीढ़ी को दे सकती थी । लेकिन बाद में यह स्थिति बदल गयी । "संयुक्त परिवार जो पारस्परिक स्नेह, प्रेम, सहयोग और सुरक्षा का स्थल था, अब उसका अंत हो गया है ।"[1] "संयुक्त परिवारों के दोषों की ओर देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि निरंतर एक साथ रहने के कारण परिवार के सदस्यों में ऐसा वैमनस्य फैलता है कि आपस में एक को दूसरे का मुँह देखना भी अच्छा नहीं लगता और अंत में यही सदस्य हिस्सा-बाँट के कारण एक इंच ज़मीन केलिए ऐसे लड़ते हैं कि वकील मुख्तार और अदालत के खातिर-ख्वाह पेट भरते हैं संयुक्त परिवार में यों तो किसी व्यक्ति प्रतिभाशाली और पुरुषार्थी निकला भी तो उसकी दुर्गति हो जाती है ।"[2] इस प्रकार संयुक्त परिवार का स्थान न्युक्लियर फैमिली को मिला । "जटिल से सरल की ओर बढ़ना मानव-स्वभाव का प्रकृत गुण है । विज्ञान के विभिन्न

---

1. डा. हेमेन्द्रकुमार पानेरी, स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास मूल्य संक्रमण, पृ. 170.
2. जयश्री बरहाटे, हिन्दी उपन्यास सातवें दशक, पृ. 111.

आविष्कार इसी प्रवृत्ति के परिणाम हैं । इसी सुख और सुविधा की भावना के कारण व्यक्ति ने आणविक परिवार को महत्व दिया है ।..... वर्तमान समय में व्यक्ति की सामाजिक-सापेक्षता संकुचित होती जा रही है । अतः अणु परिवार ही उस केलिए पर्याप्त है ।"[1] अणु परिवार के आविर्भाव के साथ साथ व्यक्ति की मानसिकता में भी काफी अंतर आ गया । इसने व्यक्ति संबंध की व्यापकता को नष्ट कर दिया । "लोगों में एक वैयक्तिक स्थिति की कामना होने लगी और उसमें व्यक्तिवादी दृष्टिकोण उभरने लगा । व्यक्ति की स्वतंत्रता की भावना बलशाली होने लगी, जिसके परिणाम स्वरूप घृणा, ईर्ष्या और विद्वेष, सहानुभूतिहीनता तथा अलगाव से जीवन भरा पडा जाने लगा ।"[2] संक्षेप में व्यक्तियों के आपसी संबंधों, यहाँ तक कि पारिवारिक संबंधों में भी गहरी खाईयाँ उत्पन्न हुई ।

डा.प्रभाकर माचवे ने पारिवारिक संबंधों में जो विसंगति आधुनिक समाज में उत्पन्न हुई है उस पर काफी ज़ोर दिया है । "किशोर" में किशोर पारिवारिक संबंधों को झूठा मानता है । "घर में कोई नहीं है उसका । बाप दब्बू है । गरीब क्लर्क है । सात भाई-बहनों को पालने के उसके पास साधन नहीं है । सौतेली माँ तो पूरी डाइन है । कभी खाने को भी ठीक से नहीं देती ।..... और वह अकेला सबसे बडा, रात-दिन ताने सुनते रहता है "उन्नीस बरस का घोडा हो गया है ? और लोगों के बच्चे तो इतनी उम्र में कमाने लगते हैं । ठिकाने लग जाते हैं ।"[3] परिवार

---

1. डा.हेमेन्द्र कुमार पानेरी, स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास मूल्य संक्रमण, पृ.163.
2. डा.सुरेश सिन्हा, हिन्दी उपन्यास उद्भव और विकास, पृ.342.
3. प्रभाकर माचवे, किशोर, पृ.2.

के सदस्यों के बीच में इस प्रकार का घुटन उत्पन्न होना किसी स्वस्थ परिवार केलिए खतरनाक है । लेकिन भौतिकता पर आधारित आधुनिक सभ्यता के संदर्भ में यह एक सामान्य-सी बात है । यह भौतिकता पर आश्रित जीवन भी काफी हद तक पश्चिमी सभ्यता की देन है । "किशोर" में पश्चिम से आये हुए कुछ पात्रों से माचवे हमारी मुलाकात कराते हैं । उनके शब्दों में भी उपर्युक्त बातें स्पष्ट उजागरित है । वे पश्चिम के युद्ध से ऊबकर शान्ति की खोज में भारत आये थे, लेकिन यहाँ भी उन्हें शान्ति की जगह बेचैनी ही हासिल होती है । स्वार्थी व मतलबी लोगों से मुलाकात होती है । बौब पूछता है -"पर मिस्टर अशोक, मैं आपकी लडकियों में सादगी नहीं देखता । आपके बच्चे बडे फिल्म स्टारों का अनुकरण करते हैं ।"[1] इस पर किशोर बिना किसी संकोच के उत्तर देता है -"इस उम्र में किस देश के बच्चे ऐसा नहीं करते । पर क्या यह दया वैसी लडकियों में से है ? थोडे से अमीर वर्ग के बच्चे से जो रेस्तराओं में इनको मिल जाते हैं । उसे सारे भारत का चित्र आप क्यों बताते है ?"[2] इससे पता चलता है कि इस प्रकार का आचरण आज के भारत में कोई नयी बात नहीं है । लेकिन बौब को यह आचरण किसी भारतवासी के संदर्भ में काफी विचित्र लगता है ।

आर्थिक पृष्ठभूमि

आज की दुनिया में पारिवारिक संबंधों की मज़बूरी के पीछे आर्थिक स्थिति की काफी महत्वपूर्ण भूमिका है । "एक तारा" में माचवे तारा को पहले शादी के विरोधी के रूप में चित्रित किया है । उसके बाद

---

1. प्रभाकर माचवे, किशोर, पृ. 52.
2. वही

वह क्षेमेन्द्र नामक एक युवक से मिलती है । उन दोनों का विवाह हो जाता है । क्षेमेन्द्र थियेटर में काम करता था । तारा भी उनका साथ देती है । कुछ समय बाद जब थियेटर का कार्य बन्द हो गया, तब उनकी आर्थिक स्थिति बिगड गयी । इस बीच उर्वशी नामक सिनी स्टार से क्षेमेन्द्र का संबंध था वह बढता गया । आखिर तारा-क्षेमेन्द्र का संबंध टूट जाता है । इस प्रकार की घटनायें हमारे समाज में हमेशा होती रहती है । इसमें संदेह नहीं है कि पारिवारिक संबंध को आपसी प्रेम से ही मज़बूत बनाया जा सकता है । लेकिन आर्थिक अभाव के कारण संबंध टूट भी जाता है । इसके अनेक उदाहरण हमारे रोज़ाना जीवन में उपलब्ध है ।

व्यक्ति जीवन की समस्यायें

पारिवारिक संबंधों में जो बिखराव प्रकट हुआ उसके कारण प्रत्येक व्यक्ति अलग-अलग इकाई बन गया है । व्यक्ति के जीवन को यह काफी प्रभावित करने लगा है । उसकी मानसिक स्थिति में एक प्रकार की अस्थिरता दिखाई देने लगी । उसमें अकेलापन का अनुभव होने लगा । सारे संबंध झूठे दिखाई पडने लगे । सामाजिक तथा वैयक्तिक मूल्यों में विघटन प्रकट होने लगा । व्यक्ति हमेशा प्रश्नाकुल रहने लगा । इन कारणों से व्यक्ति के मन में जो घुटन, संत्रास आदि उत्पन्न हुए । उनको माधवे ने अपने उपन्यासों में अंकित किया है ।

भौतिकता पर आधारित जीवन

भौतिकता पर केन्द्रित जीवन में मनुष्य अधिक स्वार्थी हो जाता है । इसे चाहे "बिजिनस मेन्टालिटी" कहे या स्वार्थ लालसा- कोई

फरक नहीं पड़ता । आधुनिक समाज में एक तरह की व्यापक स्पर्धा दिखाई देती है । परंपरागत सामाजिक और वैयक्तिक मूल्यों की परवाह नहीं की जाती है यानी मूल्यों का बुरी तरह विघटन हो गया है । मनुष्य किसी दूसरे की भलाई नहीं चाहता । वह हमेशा अपनी भलाई चाहता है । शहर के संबंध में यह हमेशा सच है -"हर आदमी अपने-अपने काम में इस तरह लगा रहता है कि दूसरे के मामले में पड़ने की किसी को फुरसत नहीं । कोई मरे-जिये, अपनी बला से ।"[1]

झूठा आदर्शवाद

आदर्शवाद आजकल किसी फैशन से बेहत्तर नहीं है । व्यक्ति अपनी इच्छानुसार तथा अपनी आवश्यकतानुसार आदर्शों की व्याख्या कर लेता है । धर्म की भी किसी प्रकार मनमानी व्याख्या की जाती है । अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थलाभ के अलावा कुछ नहीं चाहता । धर्म और आदर्श का भी उपयोग तक स्वार्थ प्रेरित है । यों कहना चाहिए कि धर्म और आदर्श की कोई महत्ता नहीं है ।

व्यापारिक मानसिकता

हर क्षेत्र में व्यापारिक मानसिकता छा गयी है । धर्म, राजनीति, संस्कृति आदि से लेकर यहाँ तक की व्यक्ति संबंध में भी व्यापारिक मानसिकता का प्रभाव देख सकते हैं । इसलिए सुदृढ पारिवारिक ढाँचे के बदले

---

1. प्रभाकर माचवे, लक्ष्मीबेन, पृ. 17.

आजकल परिवारों का हर एक अलग इकाई बन गया है । ये इकाईयाँ मनुष्य तो है ही, लेकिन उन्हें व्यक्ति कहना मुश्किल है । क्योंकि आपसी संबंध के बिना मनुष्य व्यक्ति नहीं हो सकता ।

जीवन में यान्त्रिकता

यही कारण है कि मनुष्य अपने सहजीवों को छोडकर यंत्रों को अपना साथी बना लिया है । और वह "मशीन आदमी को आंकडों में परिवर्तित करती है ।"[1] और यह मशीन हमारी सभ्यता का अंग बन चुकी है । इतना ही नहीं हमारी सभ्यता संबंधी दृष्टिकोण में भी बदलाव आया है । "मनुष्य की निरंतर अच्छा और अपने अनुकूल खोजने की टोह का ही नाम है सभ्यता ।"[2]

"सांचा" की भूमिका में माचवे कहते हैं कि "आज की समाज-व्यवस्था में राज्य, शासन, यंत्र ने धर्म संस्था का स्थान ले लिया है, और विधि निषेधों की घोर जकडन में वह व्यक्ति नाम के स्वतंत्र अंकुर को रौंद देना, उसका गला घोंटना, कलिकावस्था में ही "नोच" लेना चाहता है ।"[3] अर्थात् समाज का ऐसा कोई भी पहलू नहीं रह गया है जो यंत्र की पकड में नहीं आया हो । यहाँ तक कि यन्त्रों के बिना आज मनुष्य जी नहीं सकता । "और इस सभ्यता के आनन्दरत फल में पहला कीट यदि आकर

---

1. प्रभाकर माचवे, सांचा, पृ. 32.
2. वही, पृ. 31.
3. वही, भूमिका.

मनुष्य का मन, भावना, शरीर, विचार, राग-द्वेष - सब जैसे धुन लगे हो गए । वह चाहता कुछ है, करता कुछ और है । मगर इस मशीन रूपी टैन्टैलस का आकर्षण प्रबल है । इस मोहिनी ने कई मानवों को भीमासुर बना दिया ।[1] अपनी सुविधा बढ़ाने केलिए जिस मनुष्य ने मशीन बनाई, कालांतर में वही उसका गुलाम बन गया है ।

यंत्रीकरण की व्यापकता

थोडा बढा चढाकर ही सही, माचवे ने अपने उपन्यास "धृत" में इसी तथ्य को प्रस्तुत किया है । इसमें वे एक ऐसे गाँव को चित्रित करते हैं जहाँ के निवासी भोले-भाले हैं । लेकिन जब अचानक वह गाँव इस्पात नगर बन गया तब लोगों के शरीर ही क्या मन भी इस्पात के अनुकूल तब्दील हो गया । सभी लोग इस्पात केलिए ही जीने लगे । इस्पात नगर के हर कार्य में इस्पात का ही अधिक महत्व हो गया है । कविता, चित्रकला आदि सभी में यह प्रभाव दिखाई देने लगा । सेक्स के आधार कोई भेद-भाव नहीं रहा । सभी स्त्री-पुरुष एक ही तरह के कपडे पहनने लगा लेकिन "सारे आदमी और सारी औरतें इस्पात नगर के व्यवस्थित चलने केलिए मात्र कीलें थीं । उनमें ज्यादा उनका मूल्य नहीं था ।"[2]

स्पष्ट है कि माचवे ने अपने समय को स्पष्टत: उपन्यासों में अंकित किया है । यंत्रीकरण के साथ यद्यपि मनुष्य का मूल्य घट गया है पर यंत्रों का मूल्य बढ़ गया है । अर्थात् अपने सृष्टा को

---

1. प्रभाकर माचवे, सांचा, पृ. 31.
2. प्रभाकर माचवे, धृत, पृ. 122.

यंत्रों ने गुलाम बना रखा है । इस हकीकत को माचवे ने इस उपन्यास में पूर्णत: अभिव्यक्त किया है ।

तीर्थ स्थानों में भ्रष्टाचार

भारतीय समाज धर्माश्रित है । करीब सौ प्रतिशत भारतवासी के मन में धर्म की गहरी नींव है । चाहे कितना भी प्रयास किया जाय, लेकिन धर्म से नाता तोडना भारतवासी केलिए शायद ही संभव है । इसलिए भक्तों में अंधविश्वास फैलाकर इनसे लाभ उठानेवाले ईश्वर के अनेक ठेकेदार आज उपलब्ध होते हैं । मंदिरों और तीर्थ स्थानों में उनकी मनमानी चलती है । वहाँ की भीड-भाड में "कइयों के पॉकिट मारे जाते हैं । कइयों के कुर्ते फट जाते हैं । पूजा सामग्री को संभालकर मूर्ति तक जाना अपने आप में एक सरकस होती है ।"[1] ऐसे मंदिरों वा तीर्थस्थानों में युक्ति, बुद्धि तथा लौकिक नियमों को कोई परवाह नहीं होती । जो लाग स्वार्थी हैं, वे ईश्वर को स्वार्थी बनाते हैं । इस अंधविश्वास का लाभ उठानेवाला कोई और होता है । वे हैं पुजारी यानी ईश्वर के ठेकेदार । इसप्रकार के एक संदर्भ का वर्णन "दशभुजा" में मिलता है -"जब कोई भक्त कोई सिक्का नहीं डालता, तो यह बकरी की तरह मिमियाता पंडा या पुजारी एकदम गाली-गलौज पर उतर आता है । क्रोधी दुर्गावाहन शेर बनने का नाटक करता है, कैसी दयनीय स्थिति है । देवी तो निमित्त है, देवीपुराण भी निमित्त है - असली बात अपनी विपदावस्था का प्रदर्शन है । "अर्थ" तो वह स्वयं नहीं जानता रटे - रटाये मंत्रों का, पर वही उसका एकमात्र अर्थ-उपार्जन का मार्ग है । पर यह सब ढोंग वहो मंदिर के भीतर क्यों ?"[2] यदि किसी के

---

1. प्रभाकर माचवे, दश भुजा, पृ. 9.
2. वही, पृ. 9-10.

चढ़ावे में कोई कमी आयी तो पुजारी का बकवास भी सुनना पड़ता है - "बड़े आये देवी का इतना समय लेनेवाले । चढ़ावा सिर्फ सवा रुपया ?"[1] यदि किसी धनी को देखा तो - आईए, आईए बाबूजी, आपकी महापूजा होगी न ? आज तो एक सौ एक नहीं तो कम से कम इक्कावन रुपये चढ़ाईए - आपकी नौकरी में प्रमोशन बिल्कुल निश्चित है"[2] आदि शब्दों से पुजारी उसका स्वागत करता है । दुनिया में अनेक युद्ध घटित हुए हैं, जिनका मूल कारण धर्म रहा है । मनुष्य की जिस आध्यात्मिक उच्चता धर्म से लक्ष्य की जाती है, वह हमेशा धर्म के माध्यम से कितने ही लोग अंधकार में भटक रहे हैं। प्रकाश की जगह धर्म, अंधकार बिखरता है । भाई-भाई के बीच प्रेम के बदले धर्म, घृणा पैदा करता है । सात्त्विकता के बदले अधम संस्कार फैलाता है । इस स्थिति को कुछ उदाहरणों के माध्यम से माचवे ने प्रस्तुत किया है । "कई बार किताबें बैल की दोनों आँखों पर, जैसे तेल की घानी में, काला मोटा चश्मा पहना देते हैं, वैसे दृष्टि अवरोधक का काम करती हैं । किताबें पढ़-पढ़कर लोग अंध मूढ़ग्राही बन जाते हैं । हिटलर के अनुयायी उसके "माइन कैम्फ" को एक धार्मिक पोथी की तरह मानते थे । माओ के अनुयायी उसकी "लाल किताब" को । भिंडरावाले "ग्रंथी" का । अयातोला खोमैनी महामहोपदेशक है । किताब को साक्षी रखकर, उसे न माननेवालों को मच्छर-मक्खी की तरह मार देनेवाले इतिहास में अनेक आततायी और अंध-पठित हुए हैं ।"[3] इन लोगों ने अपने स्वार्थ भावनाओं की सफलता केलिए अपने अनुयायियों का उपयोग किया है । इन में खोमैनी अवश्य धार्मिक नेता है, शेष सब भी उनके अनुयायियों की दृष्टि में धार्मिक है । और ग्रंथ उन केलिए धर्म ग्रंथ भी । इन नेताओं ने धर्म की अपने अनुसार व्याख्या करते हुए स्वार्थ लाभ केलिए प्रयोग किया । उनके अनुयायी या तो मज़बूर होकर या अज्ञान से उनमें फँस

---

1. प्रभाकर माचवे, दश भुजा, पृ. 10.
2. वही,
3. प्रभाकर माचवे, अनदेखी, पृ. 31.

जाते हैं । कट्टरवादी धार्मिक नेताओं के ऐसे अनुयायी भी होते है, जो आतंकवादियों की तरह अपनी मनमानी करने पर तुले होते हैं ।

धर्म के नाम पर अधर्म

धर्म के नाम पर ही अनेक अधर्मों का पालन किया जाता है । अछुतो को मंदिर में प्रवेश न कराना, निरीह मेमने की बलि चढाना इत्यादि अनाचारों के बारे में "किशोर" में उल्लेख मिलता है । "बचपन की एक घटना से किशोर का ईश्वर पर विश्वास उठ गया । वह घरवालों के साथ कहीं किसी तीरथ गया था । बडा सा मंदिर ।..... हरिजन होने से एक सीमा तक ही प्रवेश संभव । वहाँ किसी देवी के आगे कोई मेमने की बलि दे रहा था ।..... क्या देवता को भी कमज़ोर मेमने की ही बलि दी जाती रही है ।"[1] तीर्थ स्थानों मं पंडों के लोभ के बारे में किशोर में उल्लेख किया गया है - "तीरथ में घाट पर पंडों का लोभ और चिपट जाना । बेचारे बाप के पास जो कुछ था, वह सब उन धर्म के नाम पर भिखारियों ने छीन लिया, लूट लिया ।"[2] यह आजकल एक लाभकारी व्यापार बन गया है । "लापता" में नायक अरविन्द मल्होत्रा अपना नाम और चेहरा बार बार बदलता है । उसका एक मित्र साधु है -"राघवानंद" । उसकी साधुगिरी के बारे में माचवे ने लिखा है -"छोटी सी जगह उसके पास थी । बाहर पटिया लगा दिया -"स्वामी राघवानंद "प्रणव-विशेषज्ञ" । जितनी रहस्यवादी शब्दावली का प्रयोग करो, उतना ही अच्छा । जन साधारण तो मूर्ख होते ही हैं, उन्हें और मूर्ख बनानेवाला चाहिए । इस देश में यह बिना पूंजी का धंधा सबसे अच्छा चलता है ।"[3]

---

1. प्रभाकर माचवे, किशोर, पृ. 33.
2. वही, पृ. 34.
3. प्रभाकर माचवे, लापता, पृ. 42.

इस प्रकार मनुष्य का धर्म में विश्वास आजकल द्यूत के समान है । आध्यात्मिक कार्य कलापों का फल मिलेगा या नहीं, इसका कोई ठिकाना नहीं है । माचवे के शब्दों में "..... क्या हिन्दु, क्या ईसाई, क्या मुस्लिम, क्या सिख सब के सब एक तरह से दिशाहारा और शरणार्थी है । विचारों की दुनिया के मायावी है ।"[1]

गांधीवाद का प्रभाव

गांधीजी के विचारों के साथ माचवे का अटूट संबंध था । उनका विवाह भी गांधीजी के सेवाग्राम में हुआ था । माचवे की विचारधारा किसी धर्म की अपेक्षा गांधीजी के विचारों से अधिक प्रभावित है । गांधीजी की धर्म निरपेक्षता "परन्तु" के अविनाश के इन शब्दों में स्पष्ट है - "हम कहाँ मुसलमानों से द्वेष करते हैं । हमारा गांधी तो उनकी लिपि, उनकी कुरआन, उनकी अच्छी बातें सीखने पढ़ने, जज्ब करने को कहता है । क्रान्तिकारियों में क्या मुसलमान, क्या हिन्दु, सब एक साथ काम करते थे - पृथ्वीसिंह और मानवेन्द्रनाथ राय ही नहीं थे, बरकतुल्ला और असफाक हुसैन भी तो थे । मुजाहिदों को क्या तुम भूल गये ?"[2] "किशोर" उपन्यास की भूमिका में विद्यार्थियों के क्रियाकलापों के बारे में गांधीजी ने जो कहा है उसको उद्धृत किया गया है :- विद्यार्थीगण परिस्थिति के दर्पण रूप हैं । उनमें न दंभ है न द्वेष । जैसा ही वे अपने को दिखाते हैं । उनकी हर बात एक दर्पण होती है, जो प्रतिबिंब अपने में लेती । विद्यार्थीगण में अगर पुरुषार्थ न हो, सत्य न हो, ब्रह्मचर्य न हो तो वह दोष उन लोगों का नहीं । वह दोष

---

1. प्रभाकर माचवे, लापता, पृ. 12.
2. प्रभाकर माचवे, परन्तु पृ. 80.

माँ-बाप का है । वह दोष अध्यापक का, आचार्य का और राजा का है ।"[1] इस प्रकार माचवे के उपन्यासों में व्यापक ढंग से गांधीजी के आदर्शों तथा उनकी विचारधाराओं का उभार हम देख सकते हैं ।

सामाजिक कुरीतियाँ

समाज के विभिन्न क्षेत्रों में व्याप्त कुरीतियाँ तथा अन्य समस्याओं का उल्लेख भी माचवे के उपन्यासों में उपलब्ध है ।

राजनीतिक क्षेत्र

जिस प्रकार सामाजिक जीवन में स्वार्थता घर पकडी है, वैसे राजनीति का क्षेत्र भी इससे मुक्त नहीं है । यह क्षेत्र भी प्रदूषित है । "किशोर" में दादा राजनीतिक कार्य-कर्ता है, क्रान्तिकारी भी । लेकिन उसकी असली बात यह है -"वह कह रहा था नेपाल बार्डर पर स्मगलिंग गैंग से भी उसका संबंध है । वहाँ से चाहे जितने नकली दस रूपये के नोट भी उसे मिल जाते थे । किशोर को कल्पना नहीं थी कि उग्र राजनीति के नाम पर कैसे कैसे गुण्डा-तत्व इस देश में कहाँ कहाँ गुप्त रूप से काम कर रहे है ।"[2] राजनीतिज्ञों के चेहरे समय-समय पर बदलते रहते हैं । कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक ही व्यक्ति समस्या के कारक और घातक का अभिनय करता है । "परंतु" का सेठ लक्ष्मीचन्द उसी प्रकार का एक व्यक्ति है -"जहाँ मोहल्ले की काग्रेस-कमेटी के वे एक प्रधान आधार और संगीत-सम्मेलन बहिष्कार समिति को जहाँ उन्होंने पर्याप्त धन-सहायता एक ओर दी, वहीं दूसरी ओर

---

1. प्रभाकर माचवे द्वारा उद्धृत किशोर की भूमिका
2. प्रभाकर माचवे, किशोर, पृ. 60.

वे संगीत सम्मेलन के आयोजन की कार्यकारिणी के भी एक स्तम्भ थे ।"[1]

साहित्यिक क्षेत्र

माचवे ने साहित्य के क्षेत्र को भी अपने प्रहार से वंचित नहीं किया है । "किशोर" में, कुछ साहित्यकारों के बीच होनेवाली चर्चा का एक उल्लेखनीय प्रसंग माचवे ने उतारा है । "किसी ने बताया कि शाम को नगर के संभ्रात काफी-हाउस में वह जाकर बैठे तो इस कथा-विधा में पारंगतता के बहुत से "गुर" वहाँ सहज मिल जा सकेंगे । वहाँ सारे नवीन पीढ़ी के विद्रोही, नवोदित, नयी प्रतिभा के अंकुर और उनके चाहनेवाले संपादक - उप संपादक, रेडियो, टी.वी.वाले और नये नये आग्रही समालोचक जमा होते हैं । किशोर वहाँ एक कोने में बैठकर उस भयानक दंगल जैसे वातावरण को प्रतिहिंसक आत्मविज्ञापनमयी हवा को सूँघता रहा । वहाँ हर बड़े नाम के लेखक और लेखिका की प्रतिष्ठा के तार-तार किये जा रहे थे । हर एक के बारे में बुरी से बुरी बातें, नंगी से नंगी भाषा में बकी जा रहीं थीं ।"[2] साहित्यिक क्षेत्र की चोरी, आर्थिक लाभ की दृष्टि से साहित्य रचना आदि कई प्रकार की बुराईयों पर माचवे ने अपना स्पष्ट विचार प्रकट किया है ।

समाज सेवा का क्षेत्र

आजकल समाज सेवा का क्षेत्र भी स्वार्थी लाभ व लालची व्यक्तियों का अड्डा बन गया है । "दश भुजा" में इस तथ्य को स्पष्ट

---

1. प्रभाकर माचवे, परंतु, पृ. 97.
2. प्रभाकर माचवे, किशोर, पृ. 57.

करनेवाला एक प्रसंग प्रस्तुत है । ग्वालों की रामलीला कमेटी के लोग वहाँ के संपन्न दूध व्यापारी दूधनाथ के पास चंदा माँगने जाते हैं । लेकिन ग्वालों के अदिती द्वारा गठित संगठन में शामिल होने के कारण वह चंदा देने से इनकार करता है । तुरन्त कमेटी के लोग अदिती पर झूठे आरोप लगाकर उसे अपमानित करने का वादा करते हैं । तब दूधनाथ प्रसन्न होकर चंदा देता है ।[1] यहाँ दूधनाथ ग्वालों को सहायता देता है । लेकिन उसका मतलब उनकी सेवा करना नहीं ; उससे लाभ उठाना है । इस प्रकार के समाज सेवक हमारे समाज में काफी मात्रा में उपलब्ध है ।

निष्कर्ष

माचवे के उपन्यासों में व्यक्ति के मनोविश्लेषण के अनेक प्रसंग उपलब्ध होते हैं । इससे पता चलता है कि माचवे मनोविज्ञान का भी प्रणेता थे । व्यक्ति की मानसिकता का सूक्ष्म विश्लेषण करने में वे सक्षम है । इसी प्रकार विभिन्न देशों की संस्कृति का भी विश्लेषण माचवे के उपन्यासों में देखा जा सकता है । यह भी नहीं माचवे के पात्र जहाँ कहीं जाते है, उन सभी जगहों, वहाँ के लोगों, उनके रहन-सहन, आचार-विचार आदि का विशद वर्णन उनके उपन्यासों में मिलता है । यह सब उनके घुमक्कड स्वभाव के सबूत है । वर्णभेद, जाति भेद, अंधविश्वास, आतंकवाद, विषमता, रूढिवादिता आदि समसामयिक सभी ज्वलंत विषयों को माचवे ने अपना विषय बनाया है । उनके उपन्यासों में समय का सजीव स्पन्दन मिलता है । समस्या चित्रण तथा परिवेश के चित्रण के बीच में कभी-कभी कथा की मार्मिकता छुट जाती है । लेकिन यहाँ भी माचवे सफल रहे है, क्योंकि उनका लक्ष्य किसी

---

1. प्रभाकर माचवे, दश भुजा, पृ. 90.

कथा विशेष के माध्यम से पाठकों को हास्यविनोद प्रदान करना नहीं है, बल्कि समाज का प्रौढ विश्लेषण करना है । इसमें वे शाकई अत्यंत सफल हुए है ।

प्रभाकर माचवे का एक स्वस्थ सामाजिक दृष्टिकोण रहा है । यही दृष्टिकोण उनके साहित्य का मूलस्वर है । व्यक्ति तथा समाज की मूल व्याधि को ढूँढ निकालने का प्रयास उनके साहित्य में दर्शनीय है । इस प्रयास में देशदेशांतर की विभिन्न जन जातियों का ज्ञान उन्होंने प्राप्त किया है । यह व्यक्ति को उसके मूल में पकडने का प्रयास ही है । यही मौलिकता माचवे की विशिष्टता है ।

सामाजिक समालोचना में माचवे ने सात्त्विक मूल्यों को कसौटी बना लिया है । हमारी संस्कृति तथा महान नेताओं के सिद्धांत यह दृष्टि हासिल करने केलिए उनके सहायक रहे हैं । मनुष्य मन के संस्कार की उन्नति केलिए सहायक सभी संघटक तत्वों को उन्होंने मूल्यवान समझा । उन्हीं के आधार पर उन्होंने व्यक्ति तथा समाज का मूल्यांकन किया है । संक्षेप में माचवे का साहित्य, सांस्कृतिक मूल्यों के आधार पर व्यक्ति और समाज की मौलिक समस्याओं तथा उनके समाधान की प्रौढ खोज है ।

अध्याय : चार

प्रभाकर माचवे के व्यक्तिवादी उपन्यास

प्रभाकर माचवे सामाजिक समस्याओं के गंभीर आलोचक हैं । उन्होंने व्यक्ति तथा समाज को वैयक्तिक और सामाजिक दृष्टिकोण को कसौटी से देखा परखा है । बदलते सामाजिक परिवेश के मुताबिक व्यक्ति-मन में जो कायापलट होता है उसे काफी गहराई से माचवे ने देखा और समझा है । उन्हें अपने उपन्यासों के माध्यम से माचवे ने अभिव्यक्त किया है । पात्रों के चरित्रचित्रण, चारित्रिक विशेषताओं की व्याख्या आदि के दौरान उनके विचार अपने आप प्रकट हो गये हैं ।

समाज के प्रत्येक स्पंदन के प्रति माचवे की स्वस्थ और तटस्थ दृष्टि रही है । उनके उपन्यासों में इस स्पंदन की ध्वनि गूँजती है । ऐसे प्रसंगों में जीवन के प्रति उनकी गंभीर विचारशीलता तथा तटस्थता विशेष रूप से प्रकट होती हैं । इसी विशेषता के कारण वे व्यक्तिमन को मथनेवाली जटिल समस्याओं का मर्म पकड सके हैं ।

माचवे यथार्थ को ही संप्रेषित करना चाहते हैं । उनका कथन है -"इस उपन्यास के प्रायः सभी प्रसंग ऐसे हैं, जो यथार्थ जीवन से मैं ने लिये हैं, जो मैं ने या मेरे आदरणीय मित्रों ने सहे हैं ।"[1] यह सही है कि माचवे ने जो के संदर्भ में ही ऐसा कहा है । लेकिन अन्य उपन्यासों से होकर गुज़रते वक्त उनके संदर्भ में भी यह वक्तव्य सही लगता है ।

---

1. प्रभाकर माचवे, लेखन की ओर आलोचना {भूमिका}, जो, पृ. 7.

वैयक्तिक जीवन की जटिलता

विज्ञान ने मनुष्य को सारी सुविधायें दी है । इन सुविधाओं ने मनुष्य को समाज से एक हद तक अलग किया है । सामाजिक संबंध टूट जाने से व्यक्ति एक प्रकार का घुटन महसूस करने लगा है । इतना ही नहीं उक्त सुविधाओं ने व्यक्ति को अधिकाधिक सुविधाओं के पीछे भागने को प्रेरित किया है । इस भागदौड ने उसके और समाज के बीच की खाई को अधिक गहरी बना दी है । व्यक्ति अपने आप में एक संकुचित इकाई बन गया है । व्यक्ति के मानसिक संस्कार की प्रक्रिया मन्द पड गयो है । इसका प्रभाव सभी क्षेत्रों पर पडा है । वैयक्तिक जटिलताओं का मूल यही माना जा सकता है ।

भौतिकता पर केन्द्रित सभ्यता ने मनुष्य को अपने आप में निर्भर होने को प्रेरित किया है । इस प्रेरणा से वह दिन-ब-दिन अधिकाधिक स्वार्थी बन जाता है । "आदमी और आदमी के बीच के रिश्ते आर्थिक हो है और वे इस युग में अधिकाधिक आर्थिक होते जा रहे हैं ।"[1] "किशोर" उपन्यास के किशोर के जीवन के चित्रण के संदर्भ में माचवे ने इस सिद्धांत पर अधिक ज़ोर दिया है । किशोर को लगता है कि "झूठे है सब रिश्ते नाते । घर में कोई नहीं है उसका ।"[2] उसका बाप दब्बू है । और गरीब क्लर्क है । सौतेली माँ उसके लिए एक डाइन के समान है । उसकी चिंता हमेशा संपत्ति बढाने की है - किशोर के संबंध में उसका विचार है -"उन्नीस बरस का घोडा हो गया है । और लोगों के बच्चे तो इतनी उम्र में कमाने लगते हैं । ठिकाने

---

1. प्रभाकर माचवे, एक तारा, पृ. 74.
2. प्रभाकर माचवे, किशोर, पृ. 2.

लग जाते है ।"[1] इस प्रकार के संबंधों के माहौल में युवा पीढी जटिल समस्याओं के गिरफ्त में पड जाती है ।

"परंतु" की हेमा को कलकत्ता नगर में इसी स्वार्थता का परिचय मिलता है । हेमा एक देहाती लडकी थी । वहाँ के भोले भाले जीवन और कलकत्ता के व्यस्त और कृत्रिम शहरी जीवन में किसी प्रकार की समानता नहीं है । कलकत्ता शहर के संबंध में उसकी राय है - "हाँ कलकत्ता सुन्दर है..... उसमें मगरमच्छ बहुत है ।"[2] यहाँ मगरमच्छ से मतलब उन लोगों से है, जो गरीबों, पीडितों यानी शोषित वर्ग का खुन पीकर मोटे हो गए है । संपत्ति कमाने की भागदौड में इन लोगों की मानवीयता कहीं विनष्ट हो गयी है । वे अवश्य रूप में मनुष्य है लेकिन आचरण में पशु से भी बदतर । मानव की यह आदिम प्रवृत्ति ने अनुकूल वातावरण पाकर आज खतरनाक रूप धारण की है ।

मनुष्य की इस आदिम प्रवृत्ति के बारे में माचवे की स्पष्ट धारणा है -"पर वह जो भीतर होता है, इतनी आसानी से मरता नहीं । वही मूल स्वभाव है । वही मनुष्य के भीतर का आदिम मनुष्य है । वही प्रथम पुरुष नहीं प्रथम पशु है । वही शिशु बनता है । उसी पर संस्कारों के पुट चढते हैं । वह अपने आपको भुलाकर इधर-उधर उसी अपनेपन को खोजता फिरता है । वह वस्तुत: अपना सही अता-पता नहीं

---

1. प्रभाकर माचवे, किशोर, पृ. 2.
2. प्रभाकर माचवे, परंतु, पृ. 108.

जानता । वह नाम बदलता रहता है, वेश बदलता रहता है । वह अलग-अलग पार्ट अदा करता है । कभी बेटा है, कभी स्वामी है, कभी यायावार है, कभी गृहहारा है । पर वह एक ही है । वह अपनी छाया से नहीं भाग सकता ।"[1]

इस आदिम प्रवृत्ति अथवा पशुता को मनुष्य अपने वश में रखा करता था । जितना उस पशुता को नियंत्रित कर सकता था, उतना वह सभ्य भी माना जाता था । लेकिन आज सभ्यता का अर्थ ही बदल गया-सा लगता है । पश्चिमी विचारों के प्रभाव से सभ्यता संबंधी हमारे दृष्टिकोण नींवाधार अंतर आ गया है । उच्चवर्गीय समाज में उन्मुक्त जीवन ही सभ्यता की कसौटी है । स्त्री और पुरुष बिना किसी भेद भाव से मिलना जुलना ही आजकल सभ्यता का सबसे प्रमुख लक्षण बन गया है । यह आधुनिक समाज की एक विडंबना है । इस संदर्भ में "दाभा" उपन्यास का यह प्रकरण उल्लेखनीय है -"दो गाडियां रात के "शो" में चित्र देखने चलीं..... केतकी, अलताफ हुसैन को ड्राइव करके ले जा रही थीं और श्यामा को भी । पिक्चर खास अच्छी नहीं थी, पर बहुत बार चित्रपट तो केवल कम्पनी केलिए देखे जाते हैं ।"[2] यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि केतकी का पति कहीं चला गया है और उसके अभाव में ही वह अलताफ को लेकर सिनेमा देखने जाती है । उन्हें अपनी आदिम प्रवृत्ति को जगाते हुए देखने में अधिक देर नहीं लगीं -"प्रकृति का सरंजाम अनुकूल था । पाप या पुण्य के कोई मानसिक ताले या संयम के बांध वहाँ नहीं थे । मुक्त मन से नारी और पुरुष मिल रहे थे । स्नेह की प्रगाढ़ छाया में, परस्पराकर्षण की आदिम वन-ज्योत्सना की सुरभि से आलोकस्नान ।"[3]

---

1. प्रभाकर माचवे, लापता, पृ. 66.
2. प्रभाकर माचवे, दाभा, पृ. 33.
3. वही, पृ. 39.

यह विडंबना इसलिए पैदा होती है कि किसी दूसरे की सभ्यता का अनुकरण करते हुए वह अपना संस्कार भूल नहीं पाता है । पश्चिम में यदि जीवन में उन्मुक्तता देखी जा सकती है, तो वहाँ के लोगों की मानसिकता उसके अनुसार ढाली गयी है । जब कोई भारतवासी उसका अनुसरण करने लगता है, तब अपनी मानसिकता ही बाधा बन जाती है । वह दुविधा में पड जाती है । और आखिर इस प्रकार की अनहोनी घटनायें घटित हो जाती है । पहले मनुष्य के मन में जीवन के बारे में गंभीर आकांक्षाएँ हुआ करती थी । जीवन दृष्टि की वह गंभीरता आज गायब हो गयी है - "आर्टिस्ट अमिय जीवन की परिभाषा है एक Merry-go-round यह दुनिया एक अच्छा व खासा कार्निवल है, जिसमें रंग-विरंगे गुब्बारे हैं, सतत निनाद करता हुआ नृत्य-संगीत का वाद्य पार्श्वभूमि में बज रहा है, सोंधी-सोंधी व्यंजनों और मादक-सुरभि के पुष्पगुच्छों और मालाओं की भीनी-भीनी महक हवा में गूँज रही है, और आर्टिस्ट मजा ले रहा है । "हे बहारेबाग दुनिया चन्द रोज ।"[1]

अमिय की कलासंबंधी दृष्टिकोण भी इसी विचार के अनुकूल है - "..... हर आदमी इसमें एक जुआरी है । जुआ खेलने के अपने-अपने तर्ज और तरीके होते हैं ।"[2] अमिय आधुनिक पीढ़ी का प्रतिनिधि है । उसका विचार है कि मनुष्य हमेशा जुआ खेलता रहता है । इसमें वह या तो जीतेगा या हारेगा । लेकिन जीत का रहस्य प्रत्येक व्यक्ति के संदर्भ में अलग-अलग होता है । क्योंकि जैसे सूचित किया गया, "जुआ खेलने के अपने अपने तर्जे और तरीके होते है ।" इसी वजह प्रत्येक व्यक्ति संदेह की दृष्टि

---

1. प्रभाकर माचवे, परंतु, पृ. 113.
2. वही

से दूसरों पर नज़र डालता है । यह संशय की दृष्टि वैयक्तिक जटिलताओं का एक कारण भी है साथ साथ अपने आप में एक जटिलता और समस्या भी ।

व्यापारिक मानसिकता की प्रवृत्ति

आपसी सतही संबंधों के साथ व्यक्ति मन में व्यापारिक मानसिकता भी जागृत हो गयी है । उसके प्रत्येक कार्य का लक्ष्य स्वार्थ लाभ हो गया है । चाहे राजनीति का क्षेत्र हो, धार्मिक या सांस्कृतिक सब कहीं यह प्रवृत्ति विद्यमान है ।

विशेषकर राजनीतिक में यह अधिक रूढमूल हो गयी है । आजकल प्राय: सभी राजनीतिज्ञ किसी भी दल का हो मतलबी और स्वार्थी निकले हैं । उनकी राजनीति सोद्देश्य है । "दश भुजा" में चित्रित सत्ताधारी का एक कार्यकर्ता इस प्रकार है -"वह चाय बहुत पीता था । और उसका एकमात्र शौक चाय था, यह भी इस "टी." का अर्थ हो सकता है । पर उसका जीवन-निर्वाह का साधन क्या था ? वह इतने ठाठ से कैसे रहता था - यह कोई नहीं पूछता था । हाँ, वह बडे बडे लोगों को जानता है । चाहे जिस वक्त, चाहे जिसका, चाहे जो काम करा देता है, यह बात सच थी ।"[1]

इस राजनीतिक कार्यकर्ता का कोई दूसरा काम नहीं,

---

1. प्रभाकर माचवे, दश भुजा, पृ. 72.

आमदनी भी । फिर भी वह काफी सुविधापूर्वक जीवन बिताता है । यह कोई जादू नहीं है । अपने राजनीतिक संबंधों के ज़रिए, वह अपने लिए साधन निकाल लेता है ।

हमारे देश में लोकतंत्र का सबसे महत्वपूर्ण स्थान है । लेकिन इस प्रणाली की सटीकता पर आजकल संदेह उत्पन्न हो गया है । जैसे सभी जानते हैं कि प्राय: सभी राजनीतिज्ञ "राजनीतिक सेवा" के माध्यम से धन कमाते हैं, इसका एक कारण यह है कि उन्हें उस पद तक पहुँचने केलिए भारी खर्च करना पड़ता है । चुनाव में जीतने केलिए प्रार्थी "वोट" खरीदते हैं । "किशोर" में कोयले खरीदनेवालों के संवाद का कुछ अंश इस प्रकार है -"अपने वो बाबूराम हैं न ? उन्हें म्युनिसिपैलिटी में टिकिट लेनी थी । पैसे बाँटे । सुना है कि हर वोट देनेवाले को एक एक हरा पत्ता ।"[1]

शुद्ध व्यापारिकता का चित्रण भी माचवे के उपन्यासों में उपलब्ध है । अपने मतलब केलिए राजनीतिक कार्यकर्ता धमकी भी देता है - "नहीं, उनका विज्ञापन मुझे मिलनेवाला था । और यदि उनकी ओर से कोई सफाई नहीं आयी, तो आगामी "चन्दन" में आप देख लेना कि सेठजी की संगीत-गोष्ठी के फोटो छप जायेंगे । समझे आप ? यह धमकी नहीं मेरे पास फोटो मौजूद है ।"[2] यहाँ दो बातें उल्लेखनीय हैं । एक तो अपने स्वार्थ केलिए राजनीतिज्ञ कुछ भी कर सकता है । दूसरी, जिस राजनीतिज्ञ के हाथों में देश के धर्म की सुरक्षा सुपुर्द है, उन्हीं हाथों से उसकी असुरक्षा भी संभव है ।

---

1. प्रभाकर माचवे, किशोर, पृ. 7.
2. प्रभाकर माचवे, परंतु, पृ. 100.

किसी भी बुरे कर्म को कोई राजनीतिज्ञ या तो सही साबित कर सकता है या उसे छिपा सकता है । वैसे किसी के अच्छे कर्म को बुरा साबित करने में भी वह समर्थ हो गया है ।

धर्म के क्षेत्र में इस व्यापारिक मानसिकता के कई पहलू हम देख सकते हैं । लोग अपनी वैयक्तिक लाभ केलिए मन्नतें माँगते है, पूजा-पाठ और दान-पुण्य करते हैं । सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि संपत्ति और अधिकार की चोटी पर बैठनेवाले ये सर्वाधिक होशियार भी रहते हैं । 'परंतु' में सेठ लक्ष्मीचन्द शहर में पधारनेवाले अद्वैतानंद जी से निवेदन करना चाहता है कि "सेठानी जी के पुत्र नहीं है, और वे मातृपद प्राप्ति केलिए कितनी लालायित है ।"[1] भगवत्गीता के अनुसार कर्मफल की इच्छा रखना अधर्म है - "निष्काम कर्मयोग ही गीता का प्रतिपाद्य है ।..... कर्म करो, परंतु फल की आशा न रखो । यदि कर्म सकाम होगा तो कर्तृत्व का अहंकार तुझमें आ जाएगा, अहंकार से जन्म मरण का फेरा लगा जाएगा ।"[2] लेकिन आजकल फल और लाभ की इच्छा के बिना कोई भी धार्मिक अनुष्ठान नहीं किया जाता है ।

चिकित्सा के क्षेत्र में इस प्रकार की व्यापारिक मानसिकता हमेशा देखी जा सकती है । एक डाक्टर के आचरण का माचवे जी ने यों चित्रित किया है -"अधिकांश आँख के विशेषज्ञ डाक्टर पैसा कमाने में लगे थे ।

---

1. प्रभाकर माचवे, परंतु, पृ. 102.
2. वही, पृ. 103.

मैं ने एक डाक्टर का शहर में व्यवहार देखा । रोगी बेचारा आया नहीं कि वह उसे डरा देता था । बस, अब तुम जनम के अंधे हो जाओगे । एक आँख जल्दी से चली जायेगी । पहले से फिक्र क्यों नहीं की ? अब आये हो ।

अब वह कांइयां डाक्टर जब उन्हें काफी मात्रा में डरा-धमका देता तो फिर सीधे पैसे की सौदेबाजी पर आ जाता -"कितने हज़ार रुपये लाये हो ।"[1] रोगी का इलाज करना डाक्टर का कर्तव्य माना जाता है । लेकिन यहाँ डाक्टर को अपनी आमदनी की चिन्ता है । चिकित्सा क्षेत्र के इस विघटन की ओर संकेत करने के साथ ही एक दूसरी समस्या की ओर भी माचवे जी ने प्रकाश डाला है ।

कभी-कभी मरीज़, डाक्टर का प्रयोग-क्षेत्र बन जाता है । उनके प्रयोग के फलस्वरूप कितने ही मरीजों को कठोर दुख सहना पड़ता है । माचवे जी ने इसकी गंभीर आलोचना की है -"हर डाक्टर मेरी आँखों को लेकर "प्रयोग" करना चाहता था । मानो मैं मनुष्य न होकर जानवर हूँ । यह कैसी विडंबना है ? आँखोंवाले अपनी आँख के बारे में क्या-क्या नहीं जानते और फिर जानना और अंधा बनाते जाता है । यह विचित्र विरोधान्यास है ।"[2]

समाज सेवा का क्षेत्र भी व्यापारिक मानसिकता से मुक्त नहीं है । अनाथालय से संबंधित एक घटना का माचवे ने चित्रण किया है । अनाथालय में मुफ्त में बाँटने केलिए जो दूध के पौडर, कपडे, किताबें आदि

---

1. प्रभाकर माचवे, अनदेखी, पृ. 29.
2. वही, पृ. 59.

मिलते हैं उन्हें बेचकर धन कमानेवाला एक व्यक्ति है । पहले-पहले वह चोरी छुपके ये चीज़ें घर ले जाया करता था । बाद में "स्टोर कीपर" को भी उसने अपने साथ मिला लिया । इस प्रकार "कागज़ पर सब चीज़ें अच्छी तरह वितरित और काम में लाई गई, दिखाई गई । पर भीतर-भीतर ये दोनों मिलकर इस दान में से मुनाफा कमाने लगे, अमानत में खयानत करने लगे ।"[1] यह कोई अतिरंजित बात नहीं कि आजकल सेवाकार्य भी एक प्रकार का धंधा बन गया है । यह किसी भी घटिया नौकरी से कम नहीं है । इतना ही अन्य सभी नौकरियों से अधिक लाभकारी भी है । शायद बहुत कम ऐसे उद्योगपति हैं, जो समाज सेवा कार्य में लगे व्यक्तियों के समान कमाते हों ।

फिलहाल साहित्य भी एक व्यापार बन चुका है । किसी नामी साहित्यकार केलिए लिखने का काम करनेवाले अनेक साहित्यकार होते हैं । उनको नौकरी केलिए वेतन दिया जाता है । और वह रचना उसी नामी साहित्यकार के नाम प्रकाशित की जाती है । माचवे की "किशोर" का एक संवाद उल्लेखनीय है - "अच्छा ? मैं ने तो यह सुना है कि "स" केलिए "द" ही कहानियाँ लिख देता है । नाम "स" का हो जाता है । नौकरी की नौकरी कायम, कहानी कला की पालिश ऊपर से ।"
"आप नहीं जानते, उस बड़े नाम के कहानीकार "क" ने तो अब फार्मूला बना लिया है । हिन्दी फिल्मों की तरह - इतनी मात्रा जासूसी कहानी जैसा सस्पेंस, इतना प्रतिशत सेक्स और इतना प्रतिशत राजनैतिक प्रचार ।"[2] यहाँ ग्राहक की रुचि के अनुसार ही साहित्यकार अपनी रचना करता है । ठीक वैसे ही जैसे व्यापार के क्षेत्र में होता है । वहाँ माँग और पूर्ति का नियम

---

1. प्रभाकर माचवे, अनदेखी, पृ. 37.
2. प्रभाकर माचवे, किशोर, पृ. 58.

ही लागू है । उस साहित्यकार ने भी इस नियम को अपनाया और साहित्य का क्षेत्र भी किसी अन्य क्षेत्र से कम नहीं । धन कमाने की दौड में साहित्यकार अपनी अस्मिता खो बैठता है । इस प्रकार के रचनाकार्य में लेखक की सृजनात्मकता कोई सवाल ही नहीं उठता । क्योंकि उसका लक्ष्य धन कमाना है । ग्राहक की रुचि के अनुसार ही उसे लिखना पडता है । या उसे लिखना होगा, यह ज़बरदस्त माँग है और मज़बूरी हैं ।

झूठे आदर्शवाद और मूल्य विघटन

व्यापारिक मानसिकता के व्यापक प्रभाव के कारण हमारे आदर्शों और मूल्यों का अर्थ ही बदल चुका है । हमारी परंपरा और संस्कृति जिन पहलुओं पर टिकी थी, उनका आधुनिक युग में कोई मूल्य नहीं रह गया है । कला और संस्कृति इतनी अभिन्न थीं, जिनका अलग होना दोनों का अंत होना माना जाता था । लेकिन इस संबंध में दरार आ गया है । इन सब बातों को "परंतु" में अविनाश के विचारों के माध्यम से माचवे ने यों प्रस्तुत किया है - "यह सब क्लासिकल गाना-फाना फिजूलियत है, सामंती कला है । वह इस युग की वस्तु नही ह । ये तान और पलटे, ये आलाप और शब्दों की तोड-मरोड समय का अपव्यय है ।"[1] कला की यह बुरी हालत हो गयी है । वह सामन्ती संस्कृति का अवशेष मानी गयी है । यानी उसका पूर्णत: अवमूल्यन हो गया है ।

वर्तमान युग में पुरुष का बुरी तरह अवमूल्यन हो गया है

---

1. प्रभाकर माचवे, परंतु, पृ. 105.

उसकी हैसियत में दरार पडा है । "धृत" को द्रौपदी पुरुष के आधिपत्य से मुक्त होना स्त्री का प्रथम लक्ष्य मानती है, और उसे अपने इशारे नचाना भी चाहती है -".....पुरुष ने स्त्री को सदियों से गुलामी में जकड रखा है । और पुरुष के इस आधिपत्य से मुक्ति ही स्त्री का उद्देश्य है । मैं ने प्रतिज्ञा की कि कभी शादी नहीं करूँगी । करूँगी भी तो पुरुष को अपने आगे पीछे नचाऊँगी । पालतू कुत्ते की तरह उसके गले में पट्टा डालकर उसे सब जगह सिर्फ हिफाज़त केलिए काम में लाऊँगी ।"[1] पति-पत्नी संबंध के सभी परंपरागत मूल्य यहाँ विनष्ट होते दिखाई देते हैं । द्रौपदी के शब्दों में सदियों की गुलामी का दर्द गूँज रहा है । वह विद्रोह करना चाहती है । किसी समझौता के बिना अपने पति को कुत्ता बनाना चाहती है । वह पुरुष के तुल्य अधिकार पाना ही नहीं, बल्कि उस पर एकाधिकार जमाना भी चाहती है । जिस प्रकार पुरुष ने स्त्री को गुलाम बना रखा था, उसी प्रकार वह पुरुष को गुलाम बना रखना चाहती है ।

कथनी और करनी में जो सामंजस्य रखता है वही आदर्श व्यक्ति है । आज भी अपने कथनी पर अमल करनेवाले व्यक्ति आदर के पात्र हैं । बल्कि ऐसे व्यक्ति आज विरले हैं । "एक तारा" में क्रान्तिकारियों का जीवन भी वर्ण्य विषय है । तारा, क्रान्तिकारियों के साथ एक रात रहती है । वह पुरुषों से डरती थी । यह समझकर क्रान्तिकारी हिमांशु, तारा को विश्वास दिलाता है -"हम क्रान्तिकारियों के नैतिक आदर्श ऊँचे होते हैं ।"[2] इन क्रान्तिकारियों में सुरेश और जयन्त भी थे । जयन्त उनका नेता था । क्रान्तिकारियों के साथ रात काटने के कारण तारा के घरवाले

---

1. प्रभाकर माचवे, धृत, पृ. 13.
2. प्रभाकर माचवे, एक तारा, पृ. 3.

ने उसे डाँटा । तारा रूठकर घर से निकली । रात्रि होने के कारण वह सीधे सुरेश के घर जाना चाहती थी । सुरेश के घर में सुरेश और सिनिस्टार उर्वशी नशे में कुछ बोल रहे थे । सुरेश की आवाज़ थी "माई डियर, आज मौसिम भी कैसा हो रहा है ।"[1] उर्वशी ने जो जवाब दिया, वह भी इस संदर्भ में उल्लेखनीय है -"शट अप तुमने मुझे क्या समझ रखा है ? तुम जैसे समाजवादी से मुझे अधिक शराफत की अपेक्षा थी । तुम स्त्रियों को समानता का दर्जा देना चाहते हो और अभी भी तुम्हारी वृत्ति वही स्त्री को भोग्या समझने की है ।"[2] उर्वशी उनके झूठे आदर्श का पोल खोल देती है । तारा समझ गई कि वहाँ रुकना खतरनाक है । वह फिर जयन्त के आवास गयी । जयन्त के साथ वह बातचीत करती रही कि वह उसे सांत्वना देने केलिए थप थपाने लगा । कृत्रिमता के अहसास से तारा ने उसे रोक दिया और सपाट बोलने लगी -"जयन्त, तुम भी....तुमसे मुझे ऐसी आशा नहीं थी । यह तुमने क्या कर डाला ? मेरे बहुत बडे सपने को चूर-चूर कर डाला ।"[3] ज़ाहिर है कि जयन्त और सुरेश का आदर्शवाद क्षण-भँगुर है । अवसर पाकर वे भी बदल सकते है । यानी आदर्शवाद दिखावा मात्र रह गया है ।

नैतिक मूल्यों को बचाये रखने में सामाजिक विषमता कभी-कभी बाधा बन जाती है । "परंतु" का सेठ लक्ष्मीचन्द शहर का सबसे बडा धनी आदमी है । अवैध मार्ग से उसने काफी धन कमाया है । इसीके बल पर वह सरकार तथा अन्य अधिकारी संस्थाओं को अपने वश में कर लिया है । किसी के साथ भी उसकी मनमानी चलती है । राजनीतिक नेता

---

1. प्रभाकर माचवे, एक तारा, पृ. 25.
2. वही, पृ. 26.
3. वही, पृ. 33.

उसके सेवक हैं । सेठजी के यहाँ कभी-कभी संगीत सम्मेलन जैसे कला प्रदर्शन हुआ करता है ।

हेम सेठजी की नौकरानी थी । एक दिन हेम को सेठजी ने बलात्कार कर दिया । यह सेठजी के लिए एक सामान्य-सी घटना थी । उसकी दृष्टि में वह बेचारी लड़कियों का उपकार कर रहा है -"ये और ऐसी सब युवतियाँ उसके सुखोपभोग केलिए पैदा हुई है । उन्हें कृतज्ञ होना चाहिए कि एवज़ में वह उन्हें रुपये दे देते हैं । अन्य लोग तो वह भी नहीं देते । इस प्रकार बलात्कार करा लेना जैसे इस वर्ग की अनाथा, दरिद्रा रूपवतियों का जन्मसिद्ध अधिकार है ।"[1] ऐसा महसूस होता है कि संपन्न वर्ग इस समाज में कुछ भी कर सकता है । उनके लिए सामाजिक नीति अपनी मनमानी है । मनमानी को कार्यान्वित करने में कोई नीति, कोई नियम या ऐसी कोई भी बाधा उपस्थित नहीं होती । यदि होती है तो भी उनको टाल देना उन केलिए कोई समस्या या दिक्कत की बात नहीं है ।

स्पष्ट है कि जिनके पास संपत्ति है, आज उनकी ही मूल्य है । जो गरीब है, उनका समाज में कोई हैसियत ही नहीं होती । "घुत" में बाढ-प्रभावित गाँव में कितने लोग बह गये, इसका कोई सही जवाब मिल नहीं पाता है । एक संवाद देखिए -"आखिर कितने लोग रहे होंगे ?" "वे तो मुसहर थे । उनकी कोई गिनती रखता है । वे जिये क्या और मरे क्या, बराबर हैं ।"[2] यहाँ गाँव के मुखिया के अलावा किसी और का पता लगाना

---

1. प्रभाकर माचवे, परंतु, पृ. 99.
2. वही, पृ. 15.

मुश्किल है, क्योंकि गाँव का एकमात्र संपन्न व्यक्ति मुखिया ही है, शेष सभी दरिद्र । अत: उनकी कोई पहचान ही नहीं । यही बात "किशोर" में माचवे कहते हैं -"पैसा है तो प्रतिष्ठा है । प्रतिष्ठा है तो उसके आगे सारे दोष धन्य है ।"[1]

आज का समाज संपत्ति की ओर किस हद तक झुका हुआ है, इसे समाज में लॉटरी के प्रभाव का चित्रण करते हुए माचवे जी ने स्पष्ट किया है । लॉटरी एक जुआ है । सरकार ही उसे चलाती है । लोग उसे तुरंत संपन्न बनने का मार्ग के रूप में स्वीकार करते है । "और देखिए इसमें छोटे बड़े का भेद नहीं, कम्युनिस्ट-कांग्रेस का भेद नहीं ।"[2] यहाँ विभिन्न राजनीतिक दलों का उल्लेख इसलिए किया गया है कि उनमें कुछ सैद्धांतिक रूप से इसका विरोध करते हैं । लेकिन चलाने में सबके आगे हैं ।

जब लॉटरी का प्रथम पुरस्कार दो लाख रुपये किशोर को मिल गये, तब समाज में उसकी हैसियत बढ गई । उससे पहले समाज में ही नहीं घर पर भी किशोर तिरस्कृत था । लेकिन अब राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्र की बड़ी हस्तियों तक केलिए वह आदरणीय हो गया है । कहने का मतलब यह है कि संपत्ति आज श्रद्धा का आधार बन गयी है । संपत्ति कमाने का मार्ग चाहे कितना भी घटिया हो लोग उसकी परवाह नहीं करते हैं ।

---

1. प्रभाकर माचवे, किशोर, पृ. 41.
2. वही, पृ. 62.

आधुनिक समाज में बुद्ध, गांधीजी, अशोक आदि सांस्कृतिक उन्नायकों का उपयोग व्यापार की दृष्टि से किया जाता है । यानी उन्नायकों को संपत्ति कमाने का साधन बनाया जा रहा है । "अशोक के नाम की तो "अशोका होटल" बनाकर हमारे देशवासियों ने स्मृति-रक्षा कर डाली हैं । बुद्ध को बुद्धू बना दिया है । बेचारे गांधीजी के नाम पर क्या-क्या वस्तुएँ नहीं बिकतीं और कैसी-कैसी संस्थाओं पर यह नाम नहीं चिपकाया जाता ?"[1] जिन महान व्यक्तियों ने हमारे सांस्कृतिक तथा नैतिक मूल्यों का निर्माण किया, उन व्यक्तियों को मनुष्य आज बिकाऊ चीज़ बना रहा है । यदि कोई सांस्कृतिक तथा नैतिक मूल्यों की बात करता है तो ज़रूर उसके पीछे कोई न कोई स्वार्थ छिपा होगा । माचवे जी ने "लापता" में लिखा है - "हाँ, वह पुराणों की कहानियाँ है । तब सत्य-युग था । अब बात दूसरी है । अब सारे संबंध स्वारथ के हो गये हैं । इस हाथ दे, उस हाथ ले । प्रेम दिखावा है ।"[2] स्वार्थ लिप्सा की ओट में सभी आदर्श आज छिप गए हैं

माचवे की दृष्टि में आदर्शवाद व्यक्ति के बचपन या किशोर अवस्था की सनक है - "बचपन में और किशोर वय में सभी आदर्शवादी होते हैं । सपने सब के मन में तैरते रहते हैं । और बहुत थोड़े हैं जो आदर्श केलिए कुछ बलि देने की जब परीक्षा की घड़ी आती है तो उसमें टिके रह पाते हैं ।"[3]

---

1. प्रभाकर माचवे, किशोर, पृ. 54.
2. प्रभाकर माचवे, लापता, पृ. 87.
3. प्रभाकर माचवे, जो, पृ. 137.

"एक तारा" में तारा के संबंध में यह सत्य निकला । तारा बचपन और किशोर अवस्था में बड़ी क्रान्तिकारी थी । पुरुष के अधिकार को उसने इनकार किया था । इसी वजह से उसने घर छोड़ा भी था । लेकिन आखिर क्षेमेन्द्र नामक थियेटर के अभिनेता के साथ उसने विवाह किया । बाद में जिस समाज व्यवस्था के विरुद्ध लड़ने केलिए वह क्रान्तिकारी बनी थी, उसी के सहारे अपनी आजीविका ढूँढनी पड़ती है -"यह क्षेमेन्द्र की बीबी ? एक जमाने में बड़ी समाजवादी थी, जेल गयी थी । आजकल सेठ हीराचंद के यहाँ रोज़ जाती है ।"[1] तारा जीवन के यथार्थ से परिचित नहीं थी । और जब उसे यथार्थ का मुकाबला करना पड़ा, तब वह उसके योग्य नहीं रही । वही उसकी पराजय का कारण है । "दाभा" में एक योगी दाभा को उपदेश देते है -"करना समझे, अनबंटे व्यक्तित्व में से जागना चाहिए। जो सिर्फ सोचते हैं - चलो स्त्रियों की दशा बुरी है, उनका उद्धार करें । वे केवल पत्थर, ईंट, चूनागारे को इमारतें बनाकर मर जाते हैं । जो सोचते हैं कि सब स्त्रियों का उद्धार असंभव है, वे एक वेश्या से विवाह करके उसे सुप्रतिष्ठित समाज की सीढ़ी पर चढ़ाकर, और नयी वेश्याओं केलिए मार्ग प्रशस्त करते हैं । जो समीक्षा को केवल भावुकता से ग्रहण करते हैं वे "नारी के प्रति" कविता लिखकर अनिंद्य अप्सरा=लोक के उपमानों के शब्द बिखरते हैं, और जीवन भर एकाकी रहते हैं ।"[2]

संक्षेप में आज का आदर्शवादी भी शायद इस प्रकार है कि बिना सोच समझ के समाज सेवा केलिए निकल पड़ता है । या उसकी समाज सेवा के पीछे कोई स्वार्थ लक्ष्य होता है । इसप्रकार आदर्शवाद, समाजसेवा

---

1. प्रभाकर माचवे, एक तारा, पृ. 73.
2. प्रभाकर माचवे, दाभा, पृ. 72.

आदि का मूल्य घट गया है । गांधीजी जैसे आदर्श पर अटल रहनेवाले समाज सेवक आज मयस्सर नहीं है । माचवे की दृष्टि में आज के सभी राजनीतिक और समाजसेवक मतलबी निकले हैं ।

व्यक्ति की अस्मिता की समस्या

आज के ज़माने में व्यक्ति ने अपनी अस्मिता खो दी है । वैयक्तिकता का अभाव सामान्य रूप से सामाजिकता को बढावा देता है । लेकिन यहाँ ऐसी बात नहीं है । समाज कुलमिलाकर एक यन्त्र बन गया है । प्रत्येक व्यक्ति उस यंत्र के कल-पुर्जे के समान है । उस यंत्र के साथ दौडे बिना उसका सफल होना असंभव है । इसलिए उसे मुख्य यंत्र के साथ दौडना पडता है । मुख्य यंत्र की रफ्तार हमेशा बढती जाती है । इसलिए व्यक्ति को भी हमेशा अपनी रफ्तार बढाते रहना पडता है । यहाँ साथ दौडनेवालों की परवाह करना कोई आसान कार्य नहीं है । मनुष्यता, सात्त्विकता, अहिंसा आदि किसी भी आदर्श का इस दौड में कोई स्थान नहीं है । इस प्रकार व्यक्ति एक "टाइप" बन जाता है । कोमल भावनाओं से रहित वह, मनुष्य न होकर यन्त्र या किसी यन्त्र का हिस्सा बन जाता है । "सांचा" और "धुत" में माचवे ने इसी तथ्य को प्रस्तुत किया है । "धुत" में माचवे ने एक फैन्टसी का चित्रण करते हुए यांत्रिक जीवन की भीषण स्थिति का काफी गहरा विवरण दिया है । वहाँ "आदमियों के नाम नहीं होते थे । नंबर से लोग पहचाने जाते हैं ।"[1] व्यक्ति का नाम खो जाना और नंबर के द्वारा उसकी पहचान होना उसकी अपनी अस्मिता का विनष्ट होना ही है ।

---

1. प्रभाकर माचवे, धुत, पृ. 117.

मांगीराम की बात सुनकर शहर जानेवाले केशो (सांचा) का अनुभव भी विचित्र है -"आंकड़ों के पीछे आदमी है । मशीन आदमी को आंकड़ों में परिवर्तित करती है ।"[1] अपनी अस्मिता को खो जाने पर भी मनुष्य यन्त्र का पीछा नहीं छोड़ता । "मगर इन मशीन रूपी टैन्टैलस का आकर्षण प्रबल है । इस मोहिनी ने कई मानवों को भीमासुर बना दिया ।"[2] और इस यंत्रीकरण का नतीजा बहुत भीषण होता है । "धुत" का वह गाँव शान्ति और चैन का मजा ले रहा था । लेकिन इस्पात नगर की तब्दीली से वह शान्ति कहीं गायब हो गयी । मनुष्य का कोई मूल्य नहीं रहा । मनुष्य-मनुष्य के बीच का संबंध भी टूट गया । लेकिन इतना तो कह जा सकता है कि लोगों की सुख-सुविधायें बढ गयी है । लेकिन शारीरिक सुख से क्या हो सकता है - "पर वहाँ जो उसने पाया वह सुख-दुख से परे एक भावनाशून्य अवसन्नता थी । सब लोग लोहे के टुकड़े बन चुके थे । और चुंबक कहीं गायब था ।"[3] मनुष्य के बीच जो संबंध और संबंध की इच्छा होती है, चुंबक तत्व का मतलब इसी से है ।

आधुनिक जीवन पर अपना गहरा विचार व्यक्त करते हुए माचवे "सांचा" में लिखते हैं -"हमारी जिन्दगियाँ सांचे में जैसे बंध-सी गयी है, वैसे ही, जैसे पुराने ज़माने के चीनियों में बच्चों के पांव लकड़ी के चौखटे में बांध दिये जाते थे । विधि-निषेध के ये चौखटे, सांचे, देखे दराज छोटे-छोटे आले और बिल । क्या हमारी इच्छाएँ और हमारे इरादे कोई पालतू पक्षी है ? या चिड़ियाखाने में कैद, बोतल बन्द जन्तुकीट ?"[4] इस अवस्था

---

1. प्रभाकर माचवे, सांचा, पृ. 32.
2. वही, पृ. 31.
3. प्रभाकर माचवे, धुत, पृ. 139.
4. प्रभाकर माचवे, सांचा, पृ. 89.

से बच निकलने की इच्छा सभी में होती है । लेकिन प्रत्येक व्यक्ति असमर्थ हो जाता है, क्योंकि इस स्थिति से बाहर आने के प्रयास के साथ-साथ उसे यंत्र के साथ दौडना भी पडता है । यह एक प्रकार का गतिरोध उत्पन्न करता है ।

माचवे जी ने वैयक्तिक और सामाजिक गतिरोध को "परंतु" में प्रस्तुत किया है । "परंतु" शब्द का प्रयोग ही इसी गतिरोध का सूचक है । अविनाश अपनी कमियों को आदर्श के पर्दे में छिपाना चाहता है । उसकी देश-भक्ति अपने आर्थिक अभाव को छिपाने का एक तरीका था । एक दिन अचानक हेम के साथ उसकी मुलाकात होती है । हेम उसकी बचपन की दोस्त है । देर रात होने पर वे होटल में कमरा लेकर सोते हैं । हेम, सेठ लक्ष्मीचन्द ने जो अत्याचार किया, उसके बारे में अविनाश से कहती है । हेम के प्रति सहानुभूति दर्शाते-दर्शाते अविनाश का आदर्श वासना की गहराई में डूब जाता है ।

प्रभाकर माचवे की दृष्टि में आदिम प्रवृत्ति पर रोक लगाना गतिरोधों को आमंत्रण देना है । वे कहते है "यह व्यक्तिगत अविनाश की ट्रैजडी नहीं, सारे समाज के गतिरोध की समस्या थी । इसका हल भी व्यक्तिगत नहीं हो सकता ।"[1] सेठ लक्ष्मीचन्द भी सामाजिक गतिरोध में सहायक दिखाई देता है । बारी रूप में वह नेता, सरकार का सहायक, परम भक्त, कलाप्रेमी आदि ज़रूर है । लेकिन अंदर ही अंदर वह अर्थलोलुप

---

1. प्रभाकर माचवे, परंतु, पृ. 29.

और वासना का शिकार है । संपत्ति और कामेच्छा की पूर्ति केलिए संपादक, महंत, कलाकार तथा युवतियों को खरीदना उसका नियत कार्य है । माचवे ने इस प्रकार सामाजिक तथा वैयक्तिक गतिरोध के अनेक आयाम प्रस्तुत किए है । उनका मूल कारण उन्होंने ढूँढ निकाला है । लेकिन समाधान ढूँढने का कार्य उन्होंने पाठक पर छोडा है ।

नारी की अस्मिता की समस्या

पुरुष प्रधान भारतीय समाज में नारी को अपनी पहचान बनाये रखना असंभव नहीं तो भी ठिोर अवश्य है । जीवन के हर एक मोड में उसे किसी पुरुष के आश्रय में रहना पडता है । यह विचार आदिपुरुष मनु के समय से ही चला आ रहा है । इसी के आधार पर ही एक हद तक भारतीय समाज का निर्माण हुआ है ।

नारीवादी आन्दोलन प्रभाव के कारण आज नारी अपने स्वतंत्र अस्तित्व के बारे में विचार करने लगी है । उस ओर काफी परिश्रम भी वह करती रहती है । फिर भी यह बात गाँव के संदर्भ में निरर्थक है । अर्थात् जो प्रयास नारी की हैसियत को सुधारने में हुआ है, वह नगर केन्द्रित है । इस दिशा में नारी को कितनी सफलता मिली है, यह भी विवाद का विषय रहा है । "एक तारा" में तारा अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाये रखने का जद्दोजद्द प्रयास करती है ।

तारा बड़े घर की बेटी है । वह उन्मुक्त जीवन की ओर आकृष्ट होती है । उसकी विचारधारा क्रान्तिकारी विचारों से मिलती-जुलती है । अगस्त क्रान्ति का समय था । वह क्रान्तिकारियों का साथ देती है । अपने घर का वातावरण तारा पसंद नहीं करती है । एक रात उसे क्रान्तिकारियों के साथ बितानी पड़ती है । अगले दिन घर पहुँचने पर उसे घर से निकाला जाता है । वह सोचती है -"क्या नारी आज के समाज में, या कभी भी अकेली नहीं रह सकती ?"[1] यह मात्र उसके मन का विचार ही नहीं है, वह स्वयं उसके अनुसार जीना चाहती है । इसलिए नारी संबंधी पौराणिक विचारधाराओं और कवियों की धारणाओं का खण्डन करती है । "तारा को लगा कि यह सब कविजन मक्कार है, झूठे हैं । नहीं है नारी लता, नहीं है मोमबत्ती । वह स्वयम् अपना अस्तित्व रखती है । वह अग्नि की चिनगारी है, वह स्वाहा है । वह सप्तसरिताओं की वेगवान बाढ़ है, वह गंगोत्री है, वह मोम और मधु की निर्मात्री मधुमक्खी है, जो कि निरी चींटी की तरह बाहर से जमा करके अपना घर नहीं बनाती, न निरी मकड़ी की तरह अपने अंदर से बाहर तंतु कात कर जाली बनाती है - वह फूलों से पराग लाती है और उसे अपने मोम से ढक कर, जमा कर मधु बना देती है ।"[2] तारा किसी विचार से आगे बढ़ती है । क्रान्तिकारी होने के नाते वह जेल भी जाती है । जेल की सजा काटने के बाद जब वह वापस आयी, तभी उसे अपनी मूर्खता का परिचय हुआ । जेल से बाहर आने पर कोई भी क्रान्तिकारी उसका साथ नहीं देता है । जयन्त जो क्रान्तिकारियों का नेता था, अब जाने-माने राजनीतिक नेता बन गया है ।

तारा का जीवन कठोर हो गया । आखिर उसे अपने

---

1. प्रभाकर माचवे, एक तारा, पृ. 34.
2. वही, पृ. 68.

आदर्शों को छोडकर पुरुष के आश्रय में जाना पडता है । उसके पति के रूप में क्षेमेन्द्र भी असफल निकलता है । क्षेमेन्द्र जब उर्वशी के साथ चला गया, तब तारा फिर अकेली हो जाती है । उसकी स्थिति परंपरागत पुरुष आश्रित नारी के समान ही हो जाती है । उसका सारा प्रयास असफल हो जाता है ।

नारी संबंधी वर्तमान सामाजिक दृष्टि को माचवे ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है -"कला नारी है । नारी वह जो रवीन्द्रनाथ की उर्वशी के समान -"वह कन्या, वह माता, वह वधू, सुन्दरी रूपसी उर्वशी है, जिसके "डान होते विष भांड, सुधापात्र, बाम करे" है, जिसकी मेखला के स्खलनमात्र से लाखों विश्वामित्रों की तपस्याएँ गड्गडा पडती है । नारी वह जो कि ।"[1] इस विचार के विरुद्ध चलनेवाली नारी जो भी हो उसे समाज न केवल नारी नहीं समझता, लेकिन उसे अपने लक्ष्य तक किसी भी प्रकार पहुँचने नहीं देता । इस दबाव को लाँघकर जाना सामान्य नारी केलिए असंभव बात है । थोडी बहुत बाधाओं को पाकर सामान्य नारी अपना उद्यम छोड देती है ।

"परंतु" में हेम का चरित्र यहाँ विशेष उल्लेखनीय है । वह विवाह के तुरन्त बाद विधवा हो जाती है । फिर अपने मामा के साथ कलकत्ता शहर आती हैं । वह बिलकुल निरीह ग्रामीण युवती थी । शहर आकर उसे कई विचित्र बातें देखनी पडती है और अमानवीयता का सामना करना पडता है । देहाती भोलेपन के कारण ही वह लक्ष्मीचंद के यहाँ नौकरी

---

1. प्रभाकर माचवे, परंतु, पृ.82.

करने जाती है । शहरी कुटिलताओं से अनभिज्ञ हेम को लक्ष्मीचंद की बुरी नज़र का पता नहीं था । उसके साथ लक्ष्मीचंद बलात्कार करता है । यहाँ पुरुष स्त्री की जैविक कमज़ोरियों का लाभ उठाता है । नारी हार जाती है । उसकी अस्मिता विनष्ट हो जाती है । इस घटना के बाद जिस अविनाश की खोज में वह कलकत्ता आयी थी, उससे भी हेम को यही अनुभव मिलता है। सहानुभूति दर्शाते-दर्शाते अविनाश की वासना जाग उठती है । हेम उसकी शिकार बन जाती है । कुलमिलाकर पुरुष वर्ग से उसका अनुभव एक ही तरह का रह जाता है । इस घटना में भी स्त्री अपनी अस्मिता को बनाये रखने में असमर्थ हो जाती है ।

"दाभा" में इससे एकदम अलग नारी व्यक्तित्व का चित्रण हुआ है । आभा और श्री के विवाह के पाँच साल बाद वह संबंध टूट जाता है । फिर आभा स्वतंत्र रूप से जीवन बिताना चाहती है । श्री के बारे में वह सोचना तक नहीं चाहती । लेकिन समय के टलते उस केलिए श्री के बारे में न सोचना असंभव सा हो गया । नारी के अलग अस्तित्व के बारे में वह हमेशा विचार करती है, यद्यपि भारतीय नारी जीवन के संदर्भ में उसे मनु-स्मृति से उसे संबंध रखना पडता है । एक अध्यापिका होने के नाते उसे मनुस्मृति पढानी भी पडती है । इसलिए वह इस संकट में पड जाती है कि स्वयं मनुस्मृति की विरोधी होकर कैसे उसके अनुकूल कुछ कहा जा सकता है । मनु-स्मृति के अनुसार नारी की अस्मिता पुरुष से जुडी हुई है । लेकिन आभा अपने जीवन में पुरुष से अलग अपनी अस्मिता बनाये रखनी चाहती है । यह संघर्ष गंभीर रूप से आभा के जीवन भर हम देख सकते है । इसका यही

प्रमाण है कि स्वतंत्र अस्तित्व के निर्माण में रत आभा बार-बार श्री के बारे में सोचती है । यह एक प्रकार से अपने मन को असलीयत से पलायन करना है । लेकिन यह पलायन सत्यकाम नामक एक अन्य पुरुष के साथ संबंध जोडने में उसकी सहायता करता है । श्री की तरह सत्यकाम भी आभा की गोद में एक बच्चा देकर चला जाता है । आभा के दोनों बच्चे उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व की दो बडी भूले हैं ।

जब क्षयरोग से पीडित आभा अपनी अंतिम घडी के इन्तज़ार में सैनिटोरियम् में पडी है, तब श्री से मिलने केलिए आतुर हो जाती है । श्री को वह चिट्ठी भेजती है । यह भी सूचित करती है कि आभा अपने पति के साथ रहना चाहती है । अब तक उसका अहम यह स्वीकार करने केलिए तैयार नहीं था । यह अंतर्विरोध अपनी अलग अस्मिता की सृष्टि में आभा के सामने हमेशा बाधा बनी रहती थी । लेकिन अपने अहम के साथ संघर्ष करके जब वह श्री से मिलना चाहती है तो श्री अनंत दूर हो जाता है ।

माचवे ने 'धुत' में विदेश से लौटी द्रौपदी नामक आधुनिक विचारों से लैस युवति को प्रस्तुत किया है । वह कहती है - "बचपन में मैं ने माँ-बाप को कभी एक साथ प्यार से या आराम से रहते नहीं देखा । मेरी यह धारणा हो गई कि पुरुष मात्र कमीने और बदमाश होते हैं । जिस तरह की पढाई-लिखाई मैं ने की, फ्रेंच, जर्मन और अंग्रेज़ी सीखी - उससे मेरी

धारणा बन गई कि पुरुष ने स्त्री को सदियों से गुलामी में जकड़ रखा है । और पुरुष के इस आधिपत्य से मुक्ति ही स्त्री का उद्देश्य है ।"[1] यहाँ द्रौपदी की प्रेरणा माँ-बाप का आपसी झगड़ा है । स्वाभाविक रूप से वह अपने पिता के विरुद्ध हो जाती है । इसलिए उसके मन में जो विरोध जागृत हुआ है, वह उसके अपने पिता के विरुद्ध है । लेकिन पिता के विरुद्ध अपना विरोध प्रकट करना या तो असंभव है या कठोर । इस स्थिति में उसका विरोध पिता के वर्ग के विरुद्ध हो जाना स्वाभाविक माना जा सकता है । इसलिए वह पुरुषों के विरुद्ध विद्रोह करना अपना ध्येय मान लेती है । द्रौपदी शादी नहीं करना चाहती । और यदि करना पड़े तो उसका यह रवैया होगा कि - "पालतू कुत्ते की तरह गले में पट्टा डालकर उसे {पति को} सब जगह सिर्फ हिफाजत केलिए काम में लाऊँगी ।"[2] इसका मतलब यह हुआ कि उसके अंतर्मन में अपनी सुरक्षा की चिन्ता है और इस केलिए वह पुरुष का आश्रय चाहती भी है ।

द्रौपदी इस प्रकार अन्य नारियों को भी अपने पाँव पर खड़े रहने को प्रेरित करती है । बाद प्रभावित गाँव की एक स्त्री है कलिया । उसे भी द्रौपदी अपने साथ कार्यरत होने को प्रेरित करती है । इस प्रकार कलिया भी जो बेसहारा पड़ी थी, अपने स्वतंत्र अस्तित्व का निर्माण करना चाहती है । लेकिन आखिर इस्पात नगर रूपी लेखक की फैन्टसी में न तो पुरुष की अस्मिता शेष रह जाती है, न स्त्री की भी । सब इस्पात बन जाते हैं । वहाँ स्त्री-पुरुष का कोई भेद-भाव नहीं है । अर्थात् व्यक्ति तक अनाम और बेपहचान का होता है ।

---

1. प्रभाकर माचवे, धृत, पृ. 13.
2. वही, पृ. 14.

"लक्ष्मीबेन" में लेखा परित्यक्ता के रूप में चित्रित है । फिर भी इसको छिपाकर एक भिन्न रूप अपनाने के प्रयास में लीन लेखा उपन्यास के पाँच खण्डों में पाँच रूप में हमारे सामने आती है । अपनी अस्मिता की खोज में ही लेखा विभिन्न रूप धारण करती है । दर असल उसके छह रूप हैं । प्रथम रूप का चित्रण एक अलग अध्याय के रूप में नहीं हुआ है । लेकिन उपन्यास के पाँचों अध्यायों में उस की झाँकियाँ मिल जाती हैं । पहले वह अपने पति और पुत्र के साथ सानंद रहती थी । परित्यक्ता होने के बाद वह यह चाहती नहीं है कि यादों में भी पति और पुत्र को छाया पड़े । लेकिन यह लेखा केलिए असंभव जान पड़ता है । वह हमेशा उन पुरानी यादों में खो जाती है । यह उसकी मानसिक स्थिति का, जो पति और पुत्र रूपी पुरुषों का आश्रय चाहती है, असली उभार है । कहने का मतलब यह है कि बाह्य रूप से लेखा पुरुषों के आधिपत्य को अस्वीकार करती है तो भी आंतरिक रूप से वह अनजाने ही उसके पीछे जाती है ।

लेखा के चरित्र में कोई स्थिरता नहीं है । यही कारण है कि वह हमेशा अपना नाम और कार्यक्षेत्र बदल देती है । मन की स्थिरता स्वतंत्र व्यक्तित्व का प्रथम सोपान है । सब से पहले वह एक अच्छी पत्नी और माँ के रूप में अपनी असफलता का परिचय देती है । उपन्यास के प्रथम खण्ड में प्रो. लेखा अध्यापन का बोझ उतार देना चाहती है । दूसरे खण्ड में समाज सुधारक लक्ष्मीबेन अपने सुधार कार्य से समाज में कोई परिवर्तन न देखकर पीछे हट जाती है । तीसरे खण्ड में सुलक्षणा देवी राजनीतिक क्षेत्र में अपनी असफलता का परिचय देती है । चौथे खण्ड में अलक्षिता नामक योगिनी को महसूस होता है कि यह भी उस केलिए योग्य क्षेत्र नहीं है । अंतिम खण्ड में वह "ल." नामक लेखिका बन जाती है ।

प्रत्येक क्षेत्र से हट जाने का लेखा का अपना कारण है । शायद इनमें व्याप्त किसी प्रकार का दुराचार इसका कारण हो सकता है । लेकिन लेखा की मानसिक चंचलता ही इसका प्रमुख कारण है । और यही स्वतंत्र अस्मिता बनाने में उसके सामने बाधा बन जाती है ।

अनुभवों से सबक सीखना बुद्धिमानी का लक्षण है । "अनदेखी" की दर्शना अपने जीवन के द्वारा यह प्रमाणित कर देती है कि इस कथन के अनुसार जीवन बिताना कितना मुश्किल है । उसने एक एक करके तीन पुरुषों से प्यार किया । "पर सब के सब कमीने ही निकले । मैं ने उन्हें कितना महान माना, उन पर श्रद्धा की, उन्हें देवता माना, आदर और स्नेह दिया और निकले वे निरे पत्थर ।"[1] ये तीन पुरुष है रत्नाकर, आनंद और विनोद इन तीनों के द्वारा ठुकराई जाने पर भी दर्शना अपना जीवन बना लेने के प्रयास में लगी रहती है । लेकिन वह विधि के क्रूर विनोद की शिकार होकर अंधी बनती है । एक ऑपरेशन द्वारा उसकी आँख ठीक हो जाती है । जब दर्शना अंधी थी, तब उसका साथ देनेवाला एक मित्र था । वह उसे बाहर घूमने ले जाया करता था । लेकिन समस्या यह उत्पन्न हो गयी कि जो व्यक्ति उसके अंधेपन के समय प्यार करता था, वह आँखों को रोशनी मिल जाने पर उससे बिगड गया ।

दर्शना के जीवन में हमेशा कोई न कोई पुरुष उसके साथ रहा है । वह भी पुरुष के साथ रहना चाहती थी । इसलिए तीन पुरुषों से

---

1. प्रभाकर माचवे, अनदेखी, पृ. 16.

ठोकर खाकर भी वह चौथे के पीछे जाती है । यद्यपि बीच-बीच में वह अपनी स्वतंत्रता, अपनी अस्मिता आदि को बचाये रखने की बात करती रहती है, लेकिन उसे कार्यान्वित करने में वह असफल निकलती है । क्योंकि पुरुषाश्रित रहना उसका अहंपक्ष है या संस्कार जन्य धर्मबोध की प्रतिक्रिया है ।

यह काफी पुराना विचार है कि स्त्री पुरुष के आश्रय के बिना नहीं रह सकती है । लेकिन भारतीय समाज में आज भी शायद ही कोई क्षेत्र है जहाँ इसका अक्षरशः पालन नहीं किया जाता हो । "लापता" में अशुतोष और विनीता के बीच के वार्तालाप से यही प्रामाणित हो जाता है -"मैं बाल-विधवा थी । सास-ससुर ने बहुत तंग किया । देवर की आंख मुझ पर थी । मैं उस तरह जिन्दगी नहीं बिताना चाहती थी ।"

"माँ-बाप के घर क्यों नहीं गई ?"

"वहां कौन बचा है मेरा ?"

"क्यों ?"

"पिता नेपाल चले गये । माँ बचपन में ही मर गई । भाइयों ने बोझ समझकर उस अधेड़ रोगी से ब्याह कर दिया । जानते हुए भी कुएं में ज़िन्दा धकेल दिया ।"

"कितने दिन गृहस्थिन रही ?"

"तीन साल निभाया । उसकी रात-दिन सेवा-टहल करती रही । वह किसी काम का बचा हुआ नहीं था । रात-दिन खांसता रहता । दमे का बीमार था । तपेदिक भी थी । मैं ने बहुत पूजा-पाठ की । पर कुछ काम नहीं आये । वह बच नहीं सका ।"[1]

---

1. प्रभाकर माचवे, लापता, पृ. 86.

इस प्रसंग में विनीता की भलाई की दृष्टि से उसका विवाह किया गया, यह कहा नहीं जा सकता । क्योंकि इस विवाह से उसकी कोई भलाई नहीं हुई। विवाह से व्यक्ति को जो भलाई लक्षित हो जाती है, उसका विनीता के जीवन से कोई संबंध नहीं रहा है । माँ-बाप अपने कर्तव्य निभाने केलिए ही विनीता का विवाह इसप्रकार कराते है । ऐसे संदर्भ में लडकी की इच्छा-अनिच्छा की कोई परवाह नहीं की जाती है । यह नारी की अस्मिता की दृष्टि से एक विडंबना ही है ।

विनीता के जीवन का यह परिणाम मुख्यत: उसके जीवन परिवेश के कारण हुआ है । उससे एकदम भिन्न प्रकार के परिवेश में ऊषा अपना जीवन बिता रही है । एक दिन वालावलकर से विवाह का प्रस्ताव हुआ । तुरंत विवाह भी हुआ । वालावलकर ऊषा को अमरीका ले गया । फिर उसे वहाँ छोडकर वापस आया । अरविंद मल्होत्रा और वालावल्कर एक ही व्यक्ति है । वह हमेशा अपना नाम बदलता रहता है । ताकि दुनिया की नज़रों में वह लापता ही रहे । काफी समय बीत जाने के बाद ही ऊषा अपने पति का पता लगा पायी । उस पर ओढें कृत्रिमता की पोल फेंककर आखिर दोनों साथ रहने लगे । यहाँ ऊषा अपनी अस्मिता के बल पर ही यह सब कर पाती है ।

यों माधवे ने नारी की अस्मिता को बनाये रखने केलिए सहायक और बाधक तत्वों का विश्लेषण किया है । बाधक तत्वों में सबसे प्रमुख हमारी पौराणिक मान्यतायें हैं । मनु को उल्लंघन होता है, वहाँ

सशक्त विस्फोट भी हो जाता है । क्योंकि हम आधुनिक होने का मात्र बहाना कर सकते हैं । उसे अपनी संस्कृति तक पहुँचाने में बड़ी कठिनाई होती है । क्योंकि मौलिक रूप से किसी भी प्रकार का परिवर्तन दर्दनाक होता है । कहने का मतलब यह है कि आधुनिक समय में नारी की स्वतंत्र अस्मिता के बारे में काफी शाब्दिक व्यायाम चलता ज़रूर है । लेकिन यह मात्र दिखावा है । अपने जीवन में उसका पालन करने केलिए कोई तैयार नहीं होता । इसलिए अपनी अस्मिता की खोज में वर्तमान नारी असफल रहती है और इसी तरह उसकी खोज जारी है ।

अकेलापन की समस्या

अकेलापन आधुनिक मनुष्य को सबसे अधिक अखरनेवाली समस्या है । इसके मूल में जीवन का बदलता परिवेश है । संयुक्त परिवार प्रणाली मनुष्य के आपसी संबंधों को बढ़ाने में अत्यन्त सहायक रही थी । परिवार के सदस्यों के बीच ही नहीं बाहरी संबंध को भी वह बढ़ावा दिया करती थी । परिवार के प्रत्येक व्यक्ति की सारी समस्याओं की जानकारी शेष सभी सदस्यों को मिल जाती थी । इसलिए समस्या का सुलझना आसान था क्योंकि परिवार के सभी सदस्य इस केलिए प्रयास किया करते थे । आधुनिक समाज में यह सुविधा नहीं है । प्रत्येक व्यक्ति की समस्या उसकी अपनी समस्या बन जाती है । आपसी संबंधों की कमी के कारण प्रत्येक की जानकारी और किसी को नहीं मिलती । इसलिए समस्या जिस व्यक्ति को हो उसको अपने आप उसको सुलझना भी पड़ता है । व्यक्ति का निर्माण एकपक्षीय होता है । कई व्यक्तियों के निर्णय की अपेक्षा एक अकेले व्यक्ति के निर्णय में कमियाँ आने की संभावना अधिक है । इसलिए हमेशा व्यक्ति को

सतर्क रहना पडता है । यह उसे चिन्ताग्रस्त और कुंठाग्रस्त व्यक्ति बना देता है । हमारे समाज को अकेलापन नामक भूत ने अपने बंधन में फंसा दिया है । इस स्थिति का गंभीर विश्लेषण माचवे के उपन्यासों में मिल जाता है ।

आधुनिक व्यक्ति के मानसिक विश्लेषण में माचवे बहुत निपुण है । मनोवैज्ञानिक ढंग से उन्होंने व्यक्तियों से मन की बदलती स्थितियों तथा उनसे उत्पन्न विभिन्न क्रियाकलापों का चित्रण किया है । "दश भुजा" का सेठ गेंदालाल अकेलापन का शिकार बन गया है । उस अवस्था को स्वीकार करने केलिए वह तैयार नहीं है । वह उसके विरुद्ध लडता रहता है । इसी वजह से वह विभिन्न कार्य-कलापों केलिए काफी खर्च भी करता है - "ऐसा कौन बडा गानेवाला या गानेवाली कलकत्ते में आई या रही, जिस पर उन्होंने हज़ारों रुपये कुरबान न कर दिये हों । संगीत के जल से, मज से, बैठकबाजी उनकी बडी प्रिय हांबियाँ थीं । फिर संगीत के वे बडे पारखी या जानकार हों ऐसी बात नहीं । एक राग को पहचानने की विशेष तमीज़ उनके यहाँ नहीं थी । पर संगीतकारों के "संरक्षक" और "पैट्रन" कहलाने का बडा भारी शौक था ।"[1] जो अकेला है या अकेलापन का अनुभव करता है, उससे बचने के अनेक तरीके हो सकते हैं । सेठजी के संबंध में यह सर्वदा सही है । इसीलिए संगीत का शौकीन न होने पर भी वह अपने घर पर संगीत सभा आयोजित करता है । संगीतकारों के संरक्षक के रूप में रहने का शौक भी इसी कारण उत्पन्न हुआ है । वह हमेशा अपने अकेलापन से बच निकलना चाहता है । दरअसल सब कार्यक्रम उस केलिए बहाना मात्र है ।

---

1. प्रभाकर माचवे, दश भुजा, पृ. 22.

सेठजी हमेशा अपने घर पर किसी का आना और उनसे बातें करते रहना पसंद करते हैं । इसलिए कुछ लड़कियों के कहने पर वे ऐसे पुस्तक खरीदते हैं, जो उसके किसी काम की नहीं है । सेठजी के यहाँ बच्चों को सिखाने केलिए जब अदिति गयी, तब वह उसके साथ बातें करना चाहता है । बात करने केलिए जब विषय न हरा, तो वह अदिति से अनुरोध करता है कि एक गाना गाये । लेकिन बाद में सुनाने का वादा करके जब अदिति चली जाती है, तब "सेठ गेंदालाल का पेट और दिमाग रूपी तूंबा अपनी एकाकीपन के खोल में बन्द हो जाता है ।"[1]

"दश भुजा" का नलिनीकांत अकेलेपन का एक दूसरा शिकार है । वह बौद्धिक है । किसी साधारण व्यक्ति के साथ वह मिलता-जुलता नहीं है । उसका विचार है कि सामान्य व्यक्तियों के साथ मिलने-जुलने से उसके बौद्धिक होने का आभास विनष्ट हो जाएगा । यही उसके अकेलापन का कारण है । जो अकेलापन का शिकार होता है, वह अकाल वृद्ध हो जाता है -"सेठ गेंदालाल को पैसे का अजीर्ण था प्रो. नलिनीकान्त को बुद्धि का अजीर्ण है । दोनों को यह पता नहीं चलता कि वे कहाँ, किससे सामने क्या कह रहे हैं । सेठ जी बुढ़ापे का कारण, और नलिनीकांत अकेले रहते-रहते अकाल-वृद्ध हो गये हैं ।"[2] यहाँ सेठजी विभिन्न कार्यों में लीन रहकर अपने अकेलापन से दूर होना चाहता है । उसका अकेलापन कृत्रिम नहीं है । वह वृद्धावस्था का स्वाभाविक परिणाम है । अनिच्छा से वह सेठ जी पर आ पड़ा है । इसलिए वह हमेशा उससे बचने का परिश्रम करता है । नलिनीकांत का अकेलापन कृत्रिम है । वह बौद्धिक होने का स्वांग भरता है । इसलिए

---

1. प्रभाकर माचवे, दश भुजा, पृ. 27.
2. वही, पृ. 31.

वह दूसरों से अलग रहता है । वह इस अकेलापन के कैद को पसंद करता है ।

श्रीमती देवी ठाकुर "दश भुजा" की एक स्त्री पात्र है, जो अकेलापन की शिकार है । अकेलापन से बच निकलने के उसके भी अनेक तरीके हैं । जो कोई सामने पड जाए, उसे श्रोता बना देना उसकी सबसे प्रिय बात है - "अकेलापन और असंतोष की दोहरी चपेट में देवी जी सदा श्रोताओं की तलाश में रहती थी ।"[1] अकेलापन से बचने केलिए ही वह अपने आप को "चित्रकला - चित्रकार - चित्र गृहों की स्वयं स्थापिता एकमात्र अधिष्ठात्री देवी मानती थी ।"[2] कविता करना और उसे किसी को सुनाते रहना भी अकेलापन से बचने के और तरीके है । संक्षेप में किसी न किसी प्रकार वह व्यस्त रहना चाहती है, ताकि वह अकेलापन के बन्धन से मुक्त हो जाय ।

अकेलापन एक सामूहिक रोग बन गया है । इसलिए उससे बचने केलिए सामूहिक रूप से अनेक कार्यक्रम भी आयोजित किया जाता है । उनमें एक है मध्यवर्गीय समाज में आयोजित पार्टियाँ । ये तो अकेलापन के गिरफ्त से बचने का मार्ग है । "दाभा" में केतकी के घर में संपन्न पार्टी एक अच्छा उदाहरण है । केतकी का पति हमेशा व्यापार-यात्रा पर है । इसलिए पति की गैरहाजिरी में वह अपने घर पर एक पार्टी आयोजित करती है । पार्टी में भाग लेने वाले प्राय: सभी व्यक्ति विशेषकर अल्ताफहुसैन और एम.पी.साहब इसी कोटि के व्यक्ति है । समय काटने में ऐसी पार्टियाँ काफी सहायक है ।

---

1. प्रभाकर माचवे, दश भुजा, पृ. 62.
2. वही, पृ. 60.

'लक्ष्मीबेन में माचवे इस समस्या को गहराई तक जाती है । लेखा अपने जीवन पर्यन्त जितना उपन्यास में चित्रित है, वह अकेली रहती है । वह उससे बचने केलिए कई प्रकार के कार्यों में लगी रहती है । बाहर किसी काम पर जाना उसे पसंद नहीं है । फिर भी वह कालेज में पढाने जाती है । पर वह मात्र उपाय होने के कारण नौकरी उसे एक बोझ लगती है । वह अध्यापन छोडकर समाज सेविका, राजनीति की कार्यकर्मि, योगिनी लेखिका आदि रूप स्वीकार करती हैं । फिर भी उसका मन हमेशा अतृप्त ही रहता है । लेखा अकेलापन को स्वीकार करने के अनुकूल नहीं थी । मज़बूरन उसे अकेलापन भोगना पडता है ।

अकेलापन के संदर्भ का विश्लेषण करते हुए पता चलता है कि यह दो प्रकार के होते हैं । एक तो सुख की अनुभूति में जबरदस्त अपनाये जानेवाला अकेलापन । दूसरा वह जो मज़बूरी से अपनाया जाता है । इस प्रकार माचवे ने अपने उपन्यासों में अकेलापन रूपी मानसिक रोग से पीडित अनेक लोगों का चित्रण किया है । ये सभी व्यक्ति आधुनिक समाज के प्रतिनिधि हैं । उनमें राजनीतिक नेता, समाज सेवक, बौद्धिक नारी आदि प्राय: सभी क्षेत्र के प्रतिनिधि आ गये हैं । यों उनके चित्रण में मध्यवर्गीय जीवन का यथार्थ रूप उभर आया है ।

निष्कर्ष

माचवे के उपन्यास अपने समय का एक लेखा-जोखा है । उसमें समय का स्पन्दन है । इसलिए ही तत्कालीन समस्यायें और वैयक्तिक जटिलतायें उभर आना स्वाभाविक है । सहजता के दायरे में खडे रहकर माचवे

ने इसमें सफलता पाई हैं । सचमुच यह सहजता कथा में नहीं, बल्कि विचारों की अभिव्यक्ति के संदर्भ में ज्यादतर नज़र आती है । सचमुच जीवन के पार्थिव बिम्बों के सहारे समस्याओं को उतारने की माचवे की कुशलता अनुपम है ।

अध्याय पाँच

गांधीवादी दर्शन और माचवे के उपन्यास

गांधीवाद

महात्मागांधी का भारत के राजनीतिक क्षेत्र में दाखिल होना एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना रही थी । यह तब हुआ जब भारत में सामूहिक उत्तरदायित्व एवं जनहित की भावना विनष्ट हो गयी थी ।[1] देश को एक सूत्र में बाँधने केलिए कोई शक्ति सक्षम नहीं थी । ऐसी बिगडी हुई अवस्था में गांधीजी ने भारत की राजनीतिक क्षेत्र का बागडोर अपने हाथों संभाल लिया । उन्होंने भारतवासियों के मन, प्राण और शरीर सबको एक सूत्र में आबद्ध करने का भरसक यत्न किया ।

गाँधीजी का कार्यक्षेत्र राजनीति तक ही सीमित नहीं रहा था । भारत के सामाजिक जीवन पर गाँधीजी का प्रभाव कम महत्वपूर्ण नहीं था । गाँधीजी ने सामाजिक जीवन को सुधारने की ऐसी एक पद्धति बनायी जो आगे चलकर गाँधीवाद के नाम से अभिहित हो गयी । बीसवीं शताब्दी में हमारे देश में जिन विचारधाराओं का उद्भव और प्रसार हुआ है उनमें गांधीवाद का सर्वोपरि महत्व है ।[2]

गांधीजी ने खुद कहा है कि वे किसी वाद विशेष से जुड़े नहीं है, न हो उन्होंने किसी नए सिद्धांत का आविष्कार किया है । गांधी दर्शन का आधार भारतीय दर्शन ही है । वह कोई नई वस्तु नहीं, बल्कि

---

1. डा. अरुणा चतुर्वेदी, गांधी विचारधारा और हिन्दी उपन्यास, विषय प्रवेश, पृ. 10.
2. वही, प्राक्कथन

गांधीजी ने उसे व्यावहारिक आधार दिया है । गांधी दर्शन की मौलिकता इसी में है ।[3] उनका कथन है कि "मैं कोई नया सत्य लेकर नहीं आया । मैं केवल सत्य का अनुसरण करना चाहता हूँ । उसे अपने में उतारना चाहता हूँ उसी रूप में, जिस रूप में मैं ने स्वयं उसे देखा है । मेरा प्रयत्न बहुत पुराने सत्य पर एक नई रोशनी डालने का है ।"[2]

गांधी दर्शन का आधारभूत स्तंभ सत्य है -"सत्य एक विशाल वृक्ष है । ज्यो-ज्यों उसकी सेवा की जाती है, त्यों त्यों उसमें अनेक फल आते दिखाई देते हैं । उसका अंत ही नहीं होता । ज्यों ज्यों हम गहरे पैठते है त्यों-त्यों उसमें रत्न निकलते हैं, सेवा के अवसर हाथ आते रहते हैं ।"[3]

गांधीजी मानते हैं कि सत्य के पालन केलिए अहिंसा अनिवार्य है -"सत्य का पूर्ण दर्शन अहिंसा को पूर्णत: प्राप्त करने से ही हो सकता है ।"[4] गांधीजी का यह निश्चित मंतव्य था कि अहिंसा व्यक्तिगत न होकर सामाजिक गुण है और उस पर राष्ट्रव्यापी स्तर पर अमल किया जा सकता है । इसलिए उन्होंने व्यावहारिक अहिंसा के साथ मानसिक अहिंसा की साधना पर भी बल दिया है ।[5] इस प्रकार अहिंसा अपने सक्रिय रूप में

---

1. डा. अरुणा चतुर्वेदी, गांधी विचारधारा और हिन्दी उपन्यास, विषय प्रवेश, पृ. 13.
2. रोमां रोलां, महात्मागांधी-जीवन और दर्शन, पृ. 60.
3. आत्मकथा, भाग-3, अध्याय 11, पृ. 240.
4. के. दामोदरन, भारतीय चिंतन परंपरा, पृ. 463.
5. डा. अरुणा चतुर्वेदी, गांधी विचारधारा और हिन्दी उपन्यास, पृ. 15.

संपूर्ण जीवन के प्रति सद्भावना और विशुद्ध प्रेम है ।"[1] "अहिंसा मानव जाति में उसी प्रकार का नियम है जिस प्रकार हिंसा पशु का नियम है ।"[2] अर्थात् अहिंसा मानव स्वभाव ही है ।

गांधीजी ने स्पष्ट कहा है कि अहिंसा अकर्मण्यता, प्रतिक्रिया हीनता आदि को बढावा नहीं देता । अहिंसावादी शांतिपूर्ण प्रतिरोध करता है । वह सामाजिक संबंधों से समझौता करने की क्षमता भी रखता है । इस प्रकार गांधीजी ने पारस्परिक सहमति के आधार पर धीरे-धीरे और क्रमिक सुधार की ही बात की है ।[3]

अहिंसा

अहिंसा अत्यंत शक्तिशाली साधन है । कोई भी सत्याधिष्ठित कार्य अहिंसा के बल पर किया जा सकता है । गांधीजी कहते हैं -"अहिंसा का अर्थ बुरा काम करनेवाले के सामने घुटने टेक देना नहीं है । इसका अर्थ है, अत्याचारी के विरुद्ध अपनी समूची आत्मा का बल लगा देना । अपने अस्तित्व के इस नियम के अंतर्गत कार्य करते हुए किसी भी अकेले व्यक्ति के लिए संभव है कि वह एक अन्यायपूर्ण साम्राज्य की समूची शक्ति और बल को चुनौती दे सके ।"[4]

---

1. महात्मागांधी - यंग इन्डिया, अंक-9, मार्च 1922.
2. डा. अरुणा चतुर्वेदी, गांधी विचारधारा और हिन्दी उपन्यास, पृ. 15.
3. के. दामोदरन, भारतीय चिंतन परंपरा, पृ. 465.
4. महात्मागांधी, यंग इन्डिया, 21 मई 1931.

यद्यपि उन्होंने अहिंसा पर बल दिया है लेकिन वे कभी भी कायरता के पक्षधर नहीं रहे थे । उन्होंने कहा है - "यदि कायरता और अहिंसा में से किसी एक को चुनना हो तो मैं हिंसा को ही पसंद करूँगा । दूसरे को न मारकर स्वयं ही मरने का जो धीरता पूर्वक साहस है, मैं उसी की साधना करता हूँ ।"[1] गांधीजी के अनुसार किसी निर्बल के साथ क्षमा निरर्थक है -"मैं जानता हूँ कि हिंसा की अपेक्षा अहिंसा कई गुनी अच्छी है - यह भी जानता हूँ कि दंड की अपेक्षा क्षमा अधिक शक्तिमती है । क्षमा सैनिक की शोभा है -लेकिन क्षमा तभी सार्थक है, जब शक्ति होते हुए भी दंड नहीं दिया जाता ।" जो कमज़ोर है, उसकी क्षमा बेमानी है । मैं भारत को कमज़ोर नहीं मानता । तीस करोड़ भारतीय एक लाख अंग्रेज़ों के डर से हिम्मत न हारेंगे । इसके अलावा वास्तविक शक्ति शरीर-बल में नहीं होती, होती है अदम्य मन में । अन्याय के प्रति "भले आदमी" की तरह आत्मसमर्पण का नाम अहिंसा नहीं है - अत्याचारी की प्रबल इच्छा के विरुद्ध अहिंसा केवल आत्मिक शक्ति से टिकती है । इसी तरह केवल एक मनुष्य केलिए भी समूचे साम्राज्य का विरोध करना और उसको गिराना संभव हो सकता है ।"[2]

गांधीजी ने अपने आदर्शों के कार्यान्वयन केलिए कुछ मूल सिद्धांतों के पालन की बात भी की है । उनमें प्रमुख निम्न लिखित हैं ।

वर्ग सहयोग

गांधीवाद के मूल सिद्धांतों में वर्ग सहयोग सर्वप्रथम है ।

---

1. रोमां रोलां, महात्मागांधी जीवन और दर्शन, पृ. 32.
2. वही, पृ. 32.

किसी वर्ग या जाति की प्रगति केलिए पारस्परिक सहयोग अनिवार्य है । गांधीजी के अनुसार समाज के सभी वर्ग समान हैं । वर्ग विभाजन के विरोध में उनका तर्क है - "वर्ग विग्रह का प्रचार मुझे अपील नहीं करता । भारत में वर्ग विग्रह न सिर्फ अनिवार्य नहीं है बल्कि वह परिहार्य भी है । जो वर्ग विग्रह के अनिवार्य होने की बात करते हैं उन्होंने अहिंसा के गूढ अर्थ नहीं समझे हैं या केवल उन्हें ऊपर से ही समझते हैं ।"[1]

गांधीजी के अनुसार शोषण के निर्मूलन केलिए वर्ग सहयोग ही अनिवार्यता है । वे कहते हैं कि शोषण का निर्मूलन तभी संभव है जब शोषक और शोषित वर्गों में सहयोग तथा पूँजी और श्रम में सामंजस्य हो क्योंकि यदि पूँजी ताकत है तो श्रम भी ताकत है । दोनों की ताकतों का विनाश या रचना केलिए उपयोग किया जा सकता है । दोनों एक दूसरे पर निर्भर है ।[2]

गांधीजी श्रम के महत्व से पूर्णत: अवगत थे । श्रम के बिना कोई भी कार्य असंभव हो जाएगा । उदाहरण के रूप में गांधीजी कहते हैं - "श्रम के बिना सोना, चांदी और तांबे का कोई महत्व नहीं है ।" अपनी इस महत्ता के बारे में श्रमिक को जानना चाहिए । उसे अपने भाग्य को कोसना नहीं चाहिए । लेकिन हमारे देश के धनी तथा उच्च वर्ग के लोग शरीर श्रम को हेय और नीचा समझते हैं । वे शरीर श्रम से घृणा करते हैं ।[3] इस स्थिति में अवश्य सुधार ज़रूरी है । गांधीजी की वर्ग सहयोग की भावना

---

1. वर्ग सहयोग के प्रवर्तक, प्रकाशन शाखा, उत्तर प्रदेश सूचना विभाग, पृ. 2.
2. वही, पृ. 5.
3. वही, पृ. 2.

इसी लक्ष्य से उद्भूत है तथा इसके द्वारा वे पूँजीपति और श्रमिक के बीच में सहयोग लाना चाहते थे ।

विकेन्द्रीकरण

किसी एक जगह इकट्ठी हुई संपत्ति शोषण का कारण बन जाती है । जिस प्रकार सत्ता और अधिकार शक्ति है उसी प्रकार संपत्ति भी शक्ति का एक साधन है । जब किसी एक व्यक्ति में सत्ता केंद्रित होती है तब अत्याचार की संभावना बढती है उसी प्रकार धन एक जगह इकट्ठा होने से भी अत्याचार बढ सकता है ।

गांधीजी के अनुसार मनुष्य की आधारभूत ज़रूरतों की पूर्ति ज़रूर संभव होनी चाहिए । उसके अतिरिक्त संग्रह करना पाप है । उन्होंने कहा है -"यदि भारत को अहिंसक रीति से विकास करना है तो उसे बहुत बातों का विकेन्द्रीकरण करना होगा । केन्द्रियकरण का संचालन और उसकी रक्षा बिना पर्याप्त शक्ति के नहीं हो सकती ।"[1]

ट्रस्टीशिप

गांधीजी के अनुसार भारतीय सामाजिक परिवेश में ट्रस्टीशिप का अपना विशेष महत्व है । ट्रस्टी वह होता है जिसे किसी

---

1. डा.अरुणा चतुर्वेदी, गांधी विचारधारा और हिन्दी उपन्यास, पृ.18.

संग्रहीत धनराशि की देखभाल करने केलिए कानूनन अधिकार प्राप्त है गांधीजी के अनुसार यही अधिकार पूँजीपतियों और धनिकों का होना चाहिए । धनिक होने का मतलब यह नहीं कि वह अपने धन का मनमाना विनियोग कर सके । दर असल वह उस संपत्ति का संरक्षक है । उनका कथन है -"दर असल बात यह है कि बड़ों को गरीबों का संरक्षक-ट्रस्टी- बनकर रहना चाहिए ।"[1]

गांधीजी का विचार था कि कोई भी धरोहर अथवा न्यास प्रत्यर्पण केलिए होता है । उपभोग केलिए नहीं । धनवितरण के संबंध में गांधीजी का विचार समाजवादी का पोषक जान पडता है । इन दोनों में अंतर इतना कि समाजवाद के अनुसार कोई व्यक्ति संपत्ति का संग्रह नहीं कर सकता जब कि गांधीजी का पक्ष यह है कि व्यक्ति संपत्ति का संग्रह कर सकता है लेकिन वह उपभोग अथवा शोषण केलिए नहीं, बल्कि समाज कल्याण केलिए होता है । अर्थात् गांधीजी के अनुसार जो संपन्न है उसे धन छोड देने की ज़रूरत नहीं बल्कि उसे ट्रस्टी के रूप में काम करना चाहिए । क्योंकि निर्धनों की सहायता के बिना धनी, धन का संचय नहीं कर सकता । महात्मागांधी का अटल विश्वास था कि "मनुष्य को आजीविका का अधिकार होना चाहिए धनोपार्जन का नहीं ।"[2] उनका विश्वास था कि "धनोपार्जन स्तेय है चोरी है" ।[3] क्योंकि "जो आजीविका से अधिक धन लेता है वह जान में या अजान में दूसरों की आजीविका छीनता है ।"[4]

---

1. गांधी, व्यक्तित्व विचार और प्रभाव, पृ. 343.
2. हिन्दी नवजीवन, 2.9.1929, पृ. 29.
3. वही
4. वही

किसी हद तक समाजवाद के साथ गांधीजी का मतैक्य रहा था । लेकिन गांधीजी का समाजवाद धनिकों से धन छीन लेना नहीं चाहता बल्कि वित्त को पूँजीपतियों के साथ ही छोडकर उन्हीं के सहारे इस लक्ष्य में सफलता हासिल करना चाहता है । धनिक यहाँ अपनी संपत्ति का ट्रस्टी बनकर लोक कल्याण केलिए उसका विनियोग करें, यही गांधीजी का विचार रहा था ।

हृदय परिवर्तन और सत्याग्रह

गांधीजी ने अहिंसा, उपवास आदि को अत्याचारी के हृदय परिवर्तन के साधन माना । सत्याग्रह का मूलभूत विचार भी वही है । गांधीजी बल के बदले सत्याग्रह के माध्यम से अत्याचारी में परिवर्तन लाना चाहते थे । सत्याग्रह का अर्थ होता है, सत्य को मानकर किसी वस्तु केलिए आग्रह करना । कायिक बल के आधार पर नहीं बल्कि सत्य और अहिंसा से उत्पन्न होनेवाले आत्मिक बल से यह संभव होता है । सत्याग्रही कभी अपने विरोधी को पीडा देना नहीं चाहता बल्कि वह स्वयं कष्ट उठाकर सत्य की रक्षा करता है ।[1]

गांधीजी ने सत्याग्रह की शुरूआत दक्षिण आफ्रिका में की थीं । रोमां रोला ने सूचित किया है - "सत्याग्रह शब्द का आविष्कार उन्होंने तभी किया था, जब वे आफ्रिका में थे - उद्देश्य था अपनी कर्म साधना के साथ निष्क्रिय प्रतिरोध का भेद स्पष्ट करना ।"[2]

---

1. डा. अरूपा चतुर्वेदी, गांधी विचारधारा और हिन्दी उपन्यास, पृ. 19-20.
2. रोमां रोलां, महात्मागांधी जीवन और दर्शन, पृ. 31.

गांधीजी का अटल विश्वास था कि "भारत की मुक्ति हिंसा के मार्ग से न होगी - स्वराज आवेगा एकमात्र सत्याग्रह के माध्यम से, आत्मा की शक्ति से, सत्य और प्रेम की शक्ति से - ये ही भारत के स्वभाव के अनुरूप अस्त्र है । और गांधी के महात्मापन की सफलता इसी में है कि जब उन्होंने सत्याग्रह की बात का प्रचार किया तो साथ ही वे उसकी वास्तविक प्रकृति और प्रसुप्त शक्ति का रूप भी लोगों की आँखों के सामने स्पष्ट कर सके ।"[1]

गांधीजी हमेशा यह विश्वास रखते थे कि हिंसा कभी मनुष्य की सहज आदत नहीं हो सकती । मनुष्य तभी अपने नाम के योग्य बनता है जब पशु-सहज हिंसा को छोड दे । "महिमामय मनुष्य केलिए आत्मिक शक्ति जैसी उच्चतर रीति ही तो चाहिए । इसीलिए मैं भी चाहता हूँ कि भारत उसी रीति के व्यवहार में मतवाला हो उठे, उसको शक्ति जाने । भारत की एक आत्मा है और इसीलिए उसका विनाश संभव नहीं है - उस आत्मा में सारे संसार की समस्त जड शक्ति के विरोध करने की क्षमता है ।"[2]

गांधीजी ने अपने ही शब्दों में सत्याग्रह के अर्थ पर विचार यों प्रकट किया है -"सत्याग्रह के अर्थ पर विचार करते हुए हम देखते हैं कि पहली शर्त यह है कि लडनेवाले में सत्य का आग्रह - सत्य का बल - होना चाहिए, अर्थात् उस व्यक्ति को केवल सत्य के ऊपर निर्भर रहना चाहिए ।

---

1. रोमां रोलां, महात्मागांधी जीवन और दर्शन, पृ.31.
2. वही, पृ.33.

एक पग दही में और एक पग दूध में रखने, अर्थात् दो नावों पर पैर रखने, से काम न चलेगा । ऐसा करनेवाला व्यक्ति (शरीर बल और नैतिक बल के दो पाटों के) के बीच में कुचल जाएगा । सत्याग्रह कोई गाजर की पीपनी नहीं है कि वह बजेगी तो बजाएँगे और नहीं तो खा जाएँगा । ऐसा माननेवाला व्यक्ति भटक-भटककर परेशान ही होता रहेगा ।"[1]

सत्याग्रही में पैसे के प्रति अनासक्ति होनी चाहिए । संपत्ति और सत्य में सदा अनबन रही है और अंत तक रहेगी । क्योंकि जो संपत्ति से चिपकता है वह सत्य की रक्षा नहीं कर सकता । इसका अर्थ यह नहीं कि सत्याग्रही के पास अर्थ हो ही नहीं सकता । हो सकता है, किन्तु वह उसका परमेश्वर नहीं बन सकता । सत्य का सेवन करते हुए पैसा रहे तो ठीक है अन्यथा उसको हाथ का मैल समझकर त्याग देना चाहिए । सत्याग्रही को अपना मन इस प्रकार बनाना चाहिए । वह अत्याचार में भाग ले नहीं सकता । वह गरीबी में ही अमीरी मान लेता है ।[2]

सत्याग्रही केलिए इन शक्तियों की ज़रूरत होती है -

"1. व्यसनों से दूर रहना
2. शरीर कसा हुआ रहना
3. सोने और बैठने में आरामतलब न होना
4. खाने में अत्यंत सादगी
5. झूठी प्रतिष्ठा का त्याग
6. धीरज ।"[3]

---

1. M.K.Gandhi, Indian Opinion, 5.6.1909, गांधी व्यक्तित्व विचार और प्रभाव, पृ. 362.
2. वही, पृ. 363
3. वही, पृ. 365

गांधीजी ने स्पष्ट किया है कि सत्याग्रही का काम काफी कठोर है । "सत्याग्रहियों को तो सूली पर चढना पडा है {ईसा}, तप्त लौहस्तंभ का आलिंगन करना पडा है, पर्वत पर से लुढकना पडा है, खौलते तेल के कडाह में तैरना पडा है {प्रह्लाद}, जलते जंगल में चलना पडा है {तुधन्वा}, राज-पाट छोडकर नीच के घर टिकना पडा है {नल-दमयन्ती}, और सिंह की गुफा में रहना पडा है {हरिश्चन्द्र} । इस प्रकार सत्याग्रही की परीक्षा संसार में भिन्न-भिन्न तरह हुई है ।[1] माँ जैसे बच्चे केलिए दुख सहकर भी उसे सुख मानती है वैसे ही सत्याग्रही देश केलिए - सत्य केलिए - दुख सहते हुए भी उसे सुख ही मानता है ।[2]

गांधीजी का साध्य सत्य है । सत्याग्रह उसका साधन था । सत्य रूपी अलौकिक विभूति को अपनाने के मार्ग में जो कष्ट सहने पडे है गांधीजी ने उन्हें सुख मान लिया । इस दरमियान जो आध्यात्मिक शक्ति उत्पन्न हुई, वही गांधीजी की शक्ति थी । गांधीजी ने विश्वास किया कि उस शक्ति के बल पर ही स्वराज्य प्राप्त होगा । उनका विचार बाद में सही भी निकला ।

प्रभाकर माचवे के उपन्यासों में गांधीवाद का प्रभाव

प्रभाकर माचवे ने अपने उपन्यासों में गांधीवाद को समाज के मूल्यविघटन की कसौटी के रूप में अपनाया है । माचवे की दृष्टि में

---

1. एम.के.गांधी, गांधी व्यक्तित्व विचार और प्रभाव, पृ.365.
2. वही, पृ.366.

गांधीजी के सिद्धांतों को समाज में वांछित प्रतिष्ठा नहीं मिली है । भौतिकतावाद का प्रभाव इसका एक प्रमुख कारण बताया जा सकता है । माचवे ने स्पष्टत: बताया है कि भौतिकतावाद मनुष्य की मनुष्यता को विनष्ट कर देगा, ये मनुष्य मानविक मूल्यों को खोकर यंत्रवत् बन जाएगा । यह मानव मात्र के सर्वनाश की स्थिति ही हो सकती है । इस संकट की स्थिति में माचवे के उपन्यास किसी चेतावनी से कम महत्वपूर्ण नहीं है ।

सत्य और अहिंसा

महात्मागांधी के सर्वप्रथम महत्वपूर्ण सिद्धांत सत्य है । गांधीजी मानते थे कि सत्य ही ईश्वर है और उस सत्य को प्राप्त करने का अनिवार्य साधन - अहिंसा है । इन सिद्धांतों के कारण गांधीवाद को "सर्व धर्मसार" कहा जा सकता है । माचवे ने इस कथन का समर्थन किया है । उन्होंने प्रचलित धर्मों के साथ गांधीवाद को समन्वय करने की कोशिश भी की है । माचवे जी ने "तीस-चालीस-पचास" उपन्यास में यहूदियों की धर्मश्रद्धाओं का उल्लेख किया है जो अहिंसा के ही विभिन्न पहलू हैं -

"दाऊ शैल नाट मर्डर ।
दाऊ शैल नाट स्टील ।
दाऊ शैल नाट कमिट अडल्टरी ।
दाऊ शैल नाट कवेट ।"[1]

बौद्ध धर्म में अहिंसा को सर्वोच्च प्रतिष्ठा है । इसलिए माचवे यह भी जोड देते हैं -"ठीक बौद्ध पातिमोक्ख जैसे"[2]। गांधीजी की

---

1. माचवे, तीस-चालीस-पचास, पृ. 80.
2. वही

दृष्टि में "सत्य तो सर्वत्र है ही ।"[1] उनका फार्मुला है - "ईश्वर = सत्य-प्रेम {अहिंसा}"[2] इस प्रकार माचवे गांधीवाद का "सर्व-धर्म-समन्वय" का रूप देते हैं । यहाँ प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि पुराने धार्मिक सिद्धांतों से गांधीवाद अभिन्न है तो उसकी आधुनिक प्रासंगिकता क्या है ? उत्तर स्पष्ट है - आज के धार्मिक नेता आचार्यों के आदर्शों को अपने इच्छानुसार व्याख्या करके स्वार्थ-पूर्ति करते हैं । लेकिन वर्तमान युग केलिए अप्रासंगिक-सा लगनेवाले उन आदर्शों को गांधीजी ने अपने जीवन में अपनाया तथा उन का एक व्यावहारिक रूप भी प्रस्तुत किया ।

गांधीवाद एक मुखौटा

गांधीजी का लक्ष्य कांग्रेस के साथ मिलकर भारत को स्वतंत्र करना था । इस लक्ष्य के वास्ते जो लोग गांधीजी के साथ काम कर रहे थे, वे उनके आदर्शों तथा सिद्धांतों का पालन करते थे । जब भारत स्वतंत्र हुआ गांधीजी के सिद्धांत उनके लिए मूल्यहीन हो गये । अर्थ संग्रह, अधिकार संग्रह जैसे गांधी-विरोधी कार्यों में वे तल्लीन होने लगे । गांधीवाद उन केलिए एक मुखौटा रहा जिसकी ओट में वे अपने स्वार्थ निकाल सकते थे ।

प्रभाकर माचवे के पात्रों में यद्यपि गांधीवादी बहुत कम हैं फिर भी तथाकथित गांधीवादी बहुत पाए जाते हैं । उनकी प्रस्तुति का लक्ष्य गांधीवाद के ठोस आधार पर समाज की गतिविगतियों का मूल्यांकन

---

1. माचवे, तीस-चालीस-पचास, पृ. 80.
2. वही

करना ही है । झूठे गांधीवादियों का विरोध दिखाते हुए माचवे असली गांधीवाद का समर्थन ही करते हैं ।

आधुनिक समय में गांधीजी के सिद्धांतों को स्वार्थ लाभ केलिए ही अपनाया जा रहा है । कोई धन-संग्रह केलिए तो कोई सत्ता संग्रह केलिए गांधीवाद का उपयोग करता है । कोई झूठी शान केलिए तथा समाज में सज्जन कहलाए जाने केलिए गांधीवाद का उपयोग करता है । ऐसे लोगों के निजी जीवन में गांधीवाद का कोई प्रभाव नहीं है । उनको माचवे ने बडी सहजता के साथ प्रस्तुत किया है । ये पाठक को इसलिए सहज लगते हैं कि रोज़ाना जीवन में ऐसे अनेक लोगों से उनका साक्षात्कार होते हैं ।

आधुनिक पीढी में गांधीवाद का वांछित प्रचार नहीं हो रहा है । इसका कारण गांधीदर्शन के प्रति आधुनिक पीढी की विरक्ति नहीं माना जा सकता बल्कि कारण यही है कि कोई प्रभावी नेता आज उपलब्ध नहीं है । इस तथ्य को माचवे ने "किशोर" में बडी सहजता के साथ प्रस्तुत किया है । "किशोर" उपन्यास के किशोर नामक गरीब लडके ने विद्यार्थी आंदोलन के दौरान एक बस जलायी थी । कुछ समय तक उसे काफी कष्ट झेलना पडा था । उसके बाद उसे लोटरी मिली । उस धन का क्या किया जाय, इस बात का सलाह लेने केलिए वह एक "वृद्ध गांधीवादी नेता" के पास जाता है । किशोर की आशा थी कि नेता से कोई "प्रकाश मिलेगा "। लेकिन उसे प्रकाश के बदले "अंधकार" मिला । उन्होंने कहा - "हिंसा के बाद,

संग्रह ? - तुम तो हमारे हिसाब से किसी काम के नहीं रहे ।"[1] किशोर ने अपनी प्रतिक्रिया इन शब्दों में प्रकट की -"क्या अहिंसा - अहिंसा का नाम - जप करने से आदमी अहिंसक हो जाता है ? मैं ने कई जैनियों को चींटियों को आटा और चीनी खिलाते और दूसरी ओर मुकदमे-बाजी और सूदखोरी करते हुए देखा है । क्या वे अहिंसक हैं ?"[2] तर्क-वितर्क से नाखुश "नेता" की शिकायत है कि आज के छात्र माओ के मार्ग पर जा रहा है । इसप्रकार का कथन उनकी असफलता की घोषणा ही है । यह इस बात का दावा है कि उनमें आत्मविश्वास का अभाव है । वे खुद मानते हैं कि "पुरानी पीढी कहीं-न-कहीं ज़रूर चूक गयी है[3] जिसमें वह स्वयं भी शामिल है । इसलिए किशोर आखिर पूछता है कि "वह इस पीढी को क्या मार्ग दिखाएगी ?"[4] माचवे कहना चाहते हैं कि जो व्यक्ति पूर्णत: गांधीजी के आदर्शों का अपने जीवन द्वारा प्रचार कर सकता है वही आधुनिक पीढी को गांधी-मार्ग दिखा सकेगा ।

अहिंसा, ढोंग का विरोध करती है । वह आत्मशुद्धि और आत्मदंड को मानती है । लेकिन ये सब नियम सामान्य रूप से छात्रों पर लाद दिए जाते हैं । किशोर चाहता है कि ये नियम प्रौढ व्यक्तियों पर भी लागू किया जाय । लेकिन अनेक गांधीवादी, गांधीजी के विचारों के विरुद्ध कार्य करते हैं -"बहुत से गांधीवादी भी इस रेले में बह गये हैं ।

---

1. प्रभाकर माचवे, किशोर, पृ. 94
2. वही
3. वही, पृ. 95
4. वही

बताइये कितने गांधीवादियों के बच्चे बुनियादी तालीम पाते हैं या शुद्ध खादी पहनते हैं, या कितने हिन्दीवादियों के बच्चे कान्वेन्ट और अंग्रेज़ी माध्यमवाली शालाओं में पढते हैं ?"[1]

गुमराह करनेवाले नेता

महात्मागांधी ने सत्य और अहिंसा को अपने आचरणों का आधार माना था । आज के राजनीतिकों का दावा है कि वे गांधी के पदचिह्नों पर चलनेवाले होते हैं । लेकिन सत्य का समर्थक होने के बदले वे सत्य को धूमिल करके उससे लाभ उठाने में मशगूल हैं । इसी वर्ग के दो नेताओं को माचवे "किशोर" में आमने-सामने प्रस्तुत करते हैं । समाजवादी नेता कहता है - "आज दुनिया भर में शोषित जनता शोषकों के विरुद्ध संघर्ष कर रही है । हमारी शिक्षा व्यवस्था निकम्मी है । हमारे मुख्य अध्यापक बेकार हैं । उनका "घेराव" करना होगा । वे उसके बिना नहीं मानेंगे । इस केलिए बडे-से-बडी कुरबानी, बडे-से-बडा त्याग करना होगा ।"[2] उसके ठीक सामने दूसरा नेता बोल रहा है -"वह जो नेता है उसके पीछे मत जाओ, मेरे पीछे पीछे आओ । मैं तुम्हें मार्ग दिखाऊँगा ।"[3] यहाँ दो नेता एक दूसरे पर कीचड उछालने में तसल्ली पाते हैं । उनके दिखाए गए "मार्ग" से चलकर किशोर सचमुच गड्ढे में जा गिरता है । वहाँ से उसे बचानेवाला कोई भी नेता नहीं था -"किशोर फिर उस कमरे में अकेले पडा सोच रहा है । शायद उसके संगी साथी आएँगे । छात्र-नेता "दादा" आएगा, जो उसे ढाढस बँधाएगा । या वह बाहर से आया हुआ बस जलाने के "टेनिक" में पारंगत गुरु घंटाल आएगा, या वे सब

---

1. प्रभाकर माचवे, किशोर, पृ. 96.
2. वही, पृ. 12.
3. वही, पृ. 13.

लोग आवेंगे जिन्होंने किशोर पर कहा था - "चढ जा बेटा सूली पर", पर उनमें से कोई नहीं आया ।"[1] लाचार बेगुनाहों को गड्ढे में धकेलकर उनके दुख-दर्दों पर हँसनेवाले आधुनिक नेताओं का सच्चा चित्र इस संदर्भ में उभर आया है ।

आज के नेता सत्य के मार्ग से डरते हैं । इसलिए "वे प्रश्नों को सुलझाना नहीं चाहते । वे जनता का ध्यान किसी और चीज़ की ओर ले जाना चाहते है । "जीवन में पचास चीज़ें हैं जो उतनी ही महत्वपूर्ण है । या शायद अधिक महत्व की हो ।"[2] पर समस्याओं के सुलझे जाने से नेता की प्रासंगिकता मिट जाती है । तब तो नेताओं का चहेता कोई होगा नहीं । इसलिए स्वार्थी समस्याओं को सुलझाने के प्रति उदासीन रहते हैं । जनता को सत्य से भटकाते हैं । "दश-भुजा" का नेता इस कोटि का है । वह मानवता-वादी अदिति को मारना चाहता है । वह आधुनिक स्वार्थी नेता का प्रतिनिधि है । वह कहता है, "इस शहर में यह कौन-सा मुश्किल काम है । किसी का भी खुन करवाना थोडे-से पैसे का खेल है । न बाँस रहेगा न बाँसुरी ।"[3]

मानव तथा मानवमुल्यों की दुहाई देनेवाले नेता केलिए किसी का खुन करना आसान कार्य हो गया है । यहाँ इसका स्पष्ट चित्रण मिलता है कि मानवमुल्यों का बेहद विघटन हो गया है । इस विघटन के प्रति माचवे हमेशा जागृत दृष्टि रखते हैं । "तीस-चालीस-पचास"में वे कहते हैं -

---

1. प्रभाकर माचवे, किशोर, पृ. 30.
2.
3. प्रभाकर माचवे, दशभुजा, पृ. 91.

"अभी अभी गांधी शताब्दी मनाई गई । अहिंसा के प्रचारक के शताब्दी-वर्ष में देश-भर में दंगे हुए । सांप्रदायिकता को विष माननेवाले की स्मृति यों मनाई गई ।"[1] गांधी जन्म शताब्दी के शुभावसर पर जहाँ उनका आदर किया जाना चाहिए वहाँ उनकी निंदा की जाती है । "किशोर" में भी गांधी जन्मशताब्दी का उल्लेख किया गया है । किशोर ने जिस बस को आग लगा दी उसकी पीठ पर गांधीजी का एक चित्र और लंबा पर्चा "गांधी शताब्दी वर्ष में रचनात्मक कार्य में युवकों का योगदान" चिपकाया गया था । बस जलायी जाने पर ये सब आग में सुलग जाते हैं । प्रतीकात्मक ढंग से लेखक दिखा देते हैं कि किस प्रकार आजकल गांधी-आदर्श निंदा तथा अवहेलना की आग में जलाए जाते हैं ।

गांधी सिद्धांत बिकाऊ चीज़

गांधीजी तथा उनके आदर्शों को बिकाऊ चीज़ बनानेवाले राजनीतिज्ञों पर माचवे कठोर व्यंग्य कसते हैं -"हमारे ज़माने में बड़े-बड़े लोग ज़रूर बहुत हुए । साधु-महंत भी बहुत थे । ढोंगी-दुराचारी कम थे । अब तो सब पेशा बन गया है । साधु बनना भी एक दुकानदारी हो गई हैं । अब हम उस केलिए क्या करें ? लोग तो कहते हैं गांधी का नाम लेकर उन्हें धोखा देनेवाले बहुत हो गये हैं । वहाँ नेताई में भी दुकानदारी चल गई । अब हम क्या करें ?"[2]

प्रभाकर माचवे ने अनेक झूठे गांधीवादियों को अपने

---

1. प्रभाकर माचवे, तीस-चालीस-पचास, पृ. 13.
2. वही, पृ. 56.

उपन्यासों में प्रस्तुत किया है । उनमें "सांचा" के देशभक्त श्रीमनजी एक उज्वल नमूना है । उन केलिए त्याग का मतलब कुछ और है । "माता, बच्चे का पालन करती है, यह त्याग है, वृक्ष फल देते हैं, यह त्याग है, हम हिंसा नहीं करते हुए सत्याग्रह करते हैं, यह त्याग है । आपके लिए मैं यह समय, इतना मूल्यवान समय, दे रहा हूँ, यह त्याग है । आप नहीं जानते कि इन दिनों मैं ने अन्न प्राय: त्याग दिया है । केवल फलों के रस, दूध, शाक आदि पर ही निर्वाह करता हूँ । यह त्याग किसलिए है ? इसलिए कि मैं जानता हूँ कि अगर यह त्याग मैं नहीं करूँगा, तो देश के जो लाखों-करोड़ों भूखे पेट पड़े हुए किसान और मज़दूर भाई हैं, उनका क्या होगा ?"[1] चावल का "त्याग" करके वे पेट भर फल खाते हैं जैसे उपन्यास में लिखा गया है -"इतने में फलों के रस आए, खजूर आए । श्रीमान् जी ने बिना किसी को पूछे उनका स्वाद-ग्रहण करना शुरू कर दिया । खाते-खाते और पीते-पीते श्रीमान्जी बीच-बीच में आत्म-जीवनी के संस्मरणात्मक अध्यायों में उलझ जाते ।"[2]

गांधीवाद में नव-पीढी की रुचि और अरुचि

यद्यपि आधुनिक युग में ऐसा प्रतीत होता है कि गांधी का प्रभाव कम है, फिर भी ऐसे कई युवक ज़रूर हैं, जो मन-ही-मन गांधीजी के विचारों के अनुसार ज़िन्दगी बिताना चाहते हैं । "सांचा" का मनोहर इस कोटि का पात्र है । गांधी से प्रभावित होकर वह खादी पहनता है । उस विषय पर वह अपना मत यों प्रकट करता है -"यह हमारी आज़ादी की वर्दी है । मैं आधा घण्टा कातता भी हूँ । मैं समझता हूँ चार घण्टे चिल्लाकर

---

1. प्रभाकर माचवे, सांचा, पृ. 38.
2. वही, पृ. 39.

लेक्चर देने की अपेक्षा यह अधिक अच्छा उद्योग है और अब तो गाँधीजी ने रोक लगा दी है -"जो काते सो पहने । जो पहने सो काते ।"[1] गांधी ने मनोहर को इतना प्रभावित किया है कि उन्हें देखे बिना ही मनोहर उनके सिद्धांतों का अनुसरण करने लगता है -"मैं ने उन्हें देखा नहीं । पर वे हमारे राष्ट्रीय जीवन के रोम-रोम व्याप्त है, वे उससे अलग नहीं किये जा सकते उन्होंने हमारे यहाँ के किसान को ; जो झुका हुआ, दबा हुआ और जमीन से मिला हुआ था, रीढ़ की हड्डी, तन कर खड़े होने का मेरूदंड दिया, एक संकल्प का मंत्र दिया है ।"[2] "सांचा" में माचवे ने एक इंटर्व्यू प्रस्तुत किया है जिससे यह जाहिर हो जाता है कि आधुनिक युवक तथा बुजुर्ग व्यावहारिक रूप से गांधीवाद को अपनाना नहीं चाहते । गांधी के सिद्धांतों का अध्ययन करने तथा उस पर भाषण या व्याख्या देने केलिए वे उत्सुक हैं । इंटर्व्यू इस प्रकार है -

"आपको कातना आता है ?

"नहीं ?"

"आप भाषण दे सकते हैं ?"

"क्यों नहीं ?"

"आपने मज़दूरों में काम किया है ?"

"नहीं ?"

"आपने गांधी-साहित्य पढा है ?"

"जी हाँ ।"

प्रश्नकार के प्रश्नों को परखने पर लगता है कि उन्हें ऐसे व्यक्ति मिल गया है जिसे गांधी-सिद्धांतों का व्यावहारिक ज्ञान नहीं है । बल्कि अवश्य सैद्धांतिक ज्ञान रखता है । अर्थात् गांधीवादी नेता की यही राय है कि सैद्धांतिक ज्ञान से काम चलेगा । आजकल के तथाकथित नेता का असली रूप माचवे के शब्दों में यों हैं - मुझे ऐसे भी कई नेता मालूम हैं, जो गांधीजी को बातों में

---

1. प्रभाकर माचवे, सांचा, पृ. 12.
2. वही, पृ. 13.

से एक भी आचरण में नहीं लाते, परंतु वे अपने को गांधीवादी बराबर बताते जाते हैं । अहिंसा उनकी इतनी बडी है कि बात-बात पर क्रुद्ध हो उठते हैं, सत्य उनका इतना अडिग है कि एक ओर बापू के चरणों में, दूसरी ओर सरकारी युद्धोद्योग के खेमे में, पार्टियों में, व्यवसाय में हर जगह वे रहते हैं । ऐसे श्रद्धालुओं से डरना चाहिए ।"[1]

गांधीवाद - गांधी धर्म

माचवे गांधीवाद को गांधी धर्म भी कहते हैं । धर्म तो मन के संस्कार तथा व्यक्ति के समग्र विकास पर लक्षित होता है । इस दृष्टि से तो गांधीवाद को धर्म की हैसियत देना अत्यंत उचित है । फिर वे चेतावनी देते हैं -"धर्म के इतिहास में इसके ज्वलंत प्रमाण हैं कि जब-जब धर्म के अनुयायियों से संशय व्यक्त करने का अधिकार छिन जाता है, तब-तब धर्म अध:पात की ओर ही झुकता है । वेदांती शंकर ने जब तर्क को अप्रतिष्ठित बना दिया, तार्किक नये-नये पंथ खोज निकालने लगे । जब-जब जैनागम जैनत्व से अधिक पूज्य हो गये, दिगम्बर-श्वेतांबरियों के झगडे बढते गये । इसी प्रकार बौद्ध, ईसाई, मुस्लिम मज़हबों की बात है । गांधी धर्म {यदि ऐसी वस्तु विचार-लोक में हो, तो} को भी ज्यों का त्यों नकल उतारने की भावना से नहीं लेना चाहिए । उसमें जो श्रद्धा करते हैं या करना चाहते हैं पूरी तरह ठोक-पीटकर, क्यों, कैसे के साथ करें । असत्य या गांधीजी के मत का विकृत, अतिकृत अन्धानुकरण उनके प्रति श्रद्धा को भी हानि पहुँचायेगा । सच्ची श्रद्धा भान और सजग होती है ।"[2] धर्मावलंबियों के बीच झगडा-लडाई

---

1. प्रभाकर माचवे, सांचा, पृ.44.
2. वही, पृ.45.

होने का कारण वाक्-स्वातंत्र्य का अभाव है । लेकिन "गांधीजी विचार-वाक-स्वातंत्र्य के बड़े भारी हिमायती हैं । अवश्य उनके मतों से विरोध अथवा मतभेद शालीन भाषा में व्यक्त करना श्रद्धा या पाप नहीं है ।"[1] ऐसा व्यवहार स्वाभाविक भी है ।

गांधीवाद और शहरीकरण

भारत की आबादी की बढ़ती हुई संख्या को चिंताजनक कहा जा सकता है । इस हालत में बेकारी की समस्या को सुलझाना असंभव लगता है । इसी समस्या की गंभीरता के कारण गांधीजी ने शारीरिक श्रम को बढ़ावा दिया तथा मशीनीकरण का विरोध भी किया । क्योंकि यंत्रों का उपयोग जहाँ होता है वहाँ मानव-शक्ति की अपेक्षाकृत कम ज़रूरत पड़ती है । मशीनीकरण की दूसरी हानी यह है कि "यंत्र-सभ्यता में आकर मनुष्य का मन, भावना, शरीर, विचार, राग-द्वेष - सब जैसे घुन-लगे-से हो गये ।"[2] इस प्रकार मशीन मनुष्य की मानविक भावनाएँ विनष्ट कर देती है । "मगर इस मशीन रूपी टैंटलस का आकर्षण बड़ा प्रबल है । इस मोहिनी ने कई मानवों को भस्मासुर बना दिया ।"[3] इस आकर्षण से प्रभावित हज़ारों लोग शहर चले जाते हैं । लेकिन "शहर में भी भीषण बेकारी है", "अगर मशीन ने आदमी को ज्यादा सुख दिया तो क्यों है बेकारी", गांधीजी की मान्यता थी कि गाँवों के विकास के द्वारा ही भारत की प्रगति संभव है । मनुष्य की प्रगति मशीनीकरण में नहीं बल्कि मनुष्य के प्रयत्न से ही संभव हो सकती है । आधुनिक पीढ़ी विज्ञान की सभी उपलब्धियों से लाभ उठाना चाहती है । उनके मन

---

1. प्रभाकर माचवे, सांचा, पृ. 45.
2. वही, पृ. 24.
3. वही, पृ. 24.

विलासप्रियता की ओर झुके हुए हैं । उनका मत है -"हमारी जिस तरह की आर्थिक स्थिति है, देश में हमें अधिक उद्योग बढाने होंगे । गांव के गोबर से हमें निस्तार पाना होगा और रासायनिक खादों का प्रयोग करना होगा । आखिर इतना विज्ञान हमने किसलिए सीखा है ?"[1] गाँधीजी की दृष्टि में भारत गाँवों में बसा है । उन गाँवों के सुधारने से ही भारत की प्रगति संभव है । लेकिन आधुनिक पीढी विज्ञान औद्योगीकरण और शहरीकरण को प्रगति का मापदंड मानते हैं । इसलिए वे गाँव का भी शहरीकरण चाहते हैं, लेकिन गांधीजी इसका विरोध करते हैं और गाँव की प्रगति ग्रामीण परिवेश को बनाये रखते हुए करना चाहते हैं ।

अमर गांधीवाद

प्रभाकर माचवे गांधी-आदर्शों की अमरता पर भी विचार करते हैं । "स्टीव" (जो) का यह प्रश्न हमेशा प्रासंगिक है "गांधी अगर हिटलर को जर्मनी में होते तो हिटलर उन्हें पाँच मिनट में खत्म कर देता । लेकिन "जिस किसी ने ईसा को सूली दी हो वह भी यही समझता था कि अब ईसा से छुट्टी हो गयी ।"[2] स्टीव यह मानता नहीं है कि गांधीजी के विचार उनके देहांत के उपरांत भी अमर रहेगा । स्टीव की मानसिकता भौतिकवादी सभ्यता के अनुसार गढित की गयी है । इसलिए गांधीजी के आदर्श को मानने केलिए वह तैयार नहीं होता । वह अपने ही विचारों में सकुच जाता है - "अहिंसा किताबों में अच्छी है -ज्यादह से ज्यादह इतवार को पादरी जी के सरमन में । पर उससे आगे उसका स्थान प्रत्यक्ष जीवन में नहीं है । मैं सिर्फ

---

1. प्रभाकर माचवे, तीस-चालीस-पचास, पृ. 10.
2. प्रभाकर माचवे, जो, पृ. 113.

एक तर्क जानता हूँ । और उसने प्रहार किया । वह शॉटगन (पिस्तौल) है ।"[1] पश्चिमी भौतिकतावादी सभ्यता गांधीजी के विचारों को वाँछित मूल्य नहीं देता है । यहाँ स्टीव की मानसिकता पूर्णत: एक सैनिक की है । वह खुद एक सैनिक भी है । इसका मतलब यह नहीं कि पश्चिम की सारी जनता यही विचार रखनेवाली हैं । पश्चिम की आम जनता भौतिकवादी सभ्यता से ऊबकर गाँधीजी के सिद्धांतों में शांति खोजती है । एक विदेशी पात्र के माध्यम से माचवे कहना चाहते हैं कि गांधीजी की जन्मभूमि भारत में जब उनके आदर्शों का विघटन हो रहा है तब विदेशों में उसका प्रचलन हो रहा है । विदेशी का कहना है -"हम विश्व नागरिक हैं । हम अहिंसक शांति - सैनिक हैं । हमारा नारा जय जगत् है ।"[2] लेकिन भारत में आकर वे निराश हो जाता है । "मैं तुम्हारे देश में आशा लेकर आया था कि यहाँ सच्ची मुक्ति मुझे मिलेगी । पर तुम लोग भी सब पैसे और सत्ता के पीछे अंधे हो । मैं अब कहाँ प्रकाश पाऊँगा ? मैं अब कल जापान जा रहा हूँ ।"[3]

सत्य की अवहेलना

सत्य को ईश्वर माननेवाले गांधी के देश में सत्य की अवहेलना हो रही है । इस तथ्य को व्यंग्यात्मक ढंग से माचवे ने यों कहा है -"सत्य इस देश में, सूली पर टँगता रहा है । "सत्यमेव जयते" के वचन कचहरियों, स्कूलों, सरकारी मकानों की दीवारों पर टँगे रहते हैं ।"[4] कहने का मतलब यही हो सकता है कि आजकल सत्य व्यावहारिक नहीं रहा वह मात्र प्रदर्शन की चीज़ बन गया है ।

---

1. प्रभाकर माचवे, जो पृ. 114.
2. प्रभाकर माचवे, किशोर, पृ. 87.
3. वही, पृ. 87.
4. प्रभाकर माचवे, दशभुजा, पृ. 14.

बदला लेना भी हिंसा है

प्रभाकर माचवे अपने उपन्यासों के माध्यम से समाज की कारगर आलोचना करते हैं । इस केलिए उन्होंने गांधी के विचारों को कसौटी बनायी है । सामाजिक समालोचना के संदर्भ में यह विशेषत: प्रकट होता है । यह सही है कि हिंसात्मकता हर जीव की मौलिक प्रवृत्ति है -"जब सिर पर बात आती है तो हर छोटा से छोटा पशु भी हिंसक हो जाता है ।"[1] लेकिन इस हिंसात्मकता को मनुष्य, मानव मूल्यों के बूते पर दबाता आ रहा है । "जो" में माचवे ने लिखा है, "गुस्से का, हिंसा का, प्रतिशोध का जीवन में स्थान है, पर क्या यह कभी संभव है कि एक सामूहिक गुनाह को सामूहिक ढंग से बदला लेकर धोया जा सकेगा ? क्या इतिहास में ऐसी सब मिसालें आखिर धरती का बंजर और वीरान रेगिस्तान बनाकर ही नहीं छोड़ गयी ।"[2] गांधीजी के सशक्त पक्षधर माचवे का मतलब यह कि कोई भी सामाजिक अपराध बदला लेने से समाप्त नहीं हो जाएगा । बदला सचमुच सर्वनाश का आमंत्रण है ।

सभ्यता के नाम पर हिंसा

माचवे जी की राय में "अपने को सभ्य कहलानेवाले समूह ने" असभ्यों को सुधारने, अपने माफिक बनाने का ठेका ले लिया है...."[3] इसलिए उन्हें संदेह होता है कि आखिर सभ्यता क्या है । इस पर विचार करते हुए वे कहते हैं कि जिन्होंने अपने को सभ्य कहा है वे ही सबसे बड़े असभ्य रहे हैं । क्योंकि उन्होंने सभ्यता के नाम पर अत्याचार किया है -"अंगरेज़ ने यही कहकर भारत में जलियांवाला बाग में गोली से भुनवा दिया था,

---

1. प्रभाकर माचवे, दशभुजा, पृ. 69.
2. प्रभाकर माचवे, जो, पृ. 31.
3. वही, पृ. 32.

बागियों को, यही कहकर गोआ में पुर्तगालियों ने इन्क्वीज़ीशन के ढंग पर कत्ले-आम कराया, यही कहकर आफ्रिका में यूरोप की ताकतें नंगे शस्त्रों के सहारे सभ्यता और संस्कृति फैलाती रहीं, यही कहकर गत महा-युद्ध में हिटलर ने "आर्य-श्रेष्ठता" सिद्ध की यही कहकर चीनी फ़ौजों ने तिब्बत में कत्ले - आम किया । क्या अधिकार है किसी भी गिरोह को दूसरे पर अपने रहन-सहन का तरीका "सभ्यता" कहकर थोपने का ? क्या सभ्य है और क्या असभ्य कौन तय करे ?"[1] इन उदाहरणों को उद्धृत करके माचवे साबित करते हैं कि असत्य और हिंसा से नहीं बल्कि गांधीजी द्वारा घोषित सत्य और अहिंसा के माध्यम से ही मनुष्य सभ्य हो सकता है । उसी सत्य को आदर्श बनाकर कोई युद्ध को नक्शे से मिटाना चाहता हैतो दूसरी ओर कोई "एक मेगाटन, कोई एक हाइड्रोजन बम और दूसरा कोई भूगर्भ में आणविक परीक्षण चालू करते हैं ।"[2] आधुनिक मनुष्य यद्यपि अपने होठों से "गांधी-महान" का नारा रटते रहते हैं, फिर भी उनके आदर्शों को आत्मसात करने केलिए कोई तैयार नहीं होते ।

मनुष्य का सात्त्विक पक्ष

गांधीजी के आदर्शों के परिप्रेक्ष्य में माचवे युद्ध की विभीषिका पर भी विचार करते हैं । हिंसा का मार्ग हमेशा सर्वनाश की ओर ही ले जाएगा । "जो" के कथावाचक हिंसावादी स्टीव से पूछता है -"तो आपका ख्याल है अस्त्रों का जवाब अस्त्रों से और हिंसा को हिंसा से जीता जा सकेगा ? यह तो एक अनंत सरणि है । आपने मान लीजिए अणु-अस्त्र बना लिए । आपके शत्रु ने उससे भी बढकर और भयानक मारवाले और कारगर

---

1. प्रभाकर माचवे, जो, पृ. 32.
2. वही, पृ. 35.

अणु-अस्त्र बनाए । और स्टीव साहब आपका बस चले तो सारी दुनिया को ही आज तहस-नहस करके राख का ढेर बना दे ।"[1] स्टीव कहता है कि "कोई माया-ममता-मोह, छोटे-छोटे प्रेम-स्नेह, पाश का कोई प्रभाव उस पर पड़ नहीं सकता । लेकिन गांधीजी के विचारों के आधार पर माचवे इसका खंडन करते हैं -ऐसा हो ही नहीं सकता । जब तक आदमी जिंदा है, वह पूरी तरह अंदर से मर हो नहीं सकता । यह तो उसकी खाम-खयाली है । हज़ारों बरस पुराने दबे पड़े हुए दाने उग आए हैं, चट्टानों के नीचे से पानी के सोते फूट पड़े हैं, रेगिस्तान जहाँ थे, वहाँ उद्यान लहलहाने लगे हैं ।"[2]

आधुनिक समाज में सत्य, अहिंसा आदि सात्विक मूल्यों का विघटन हो रहा है । भौतिकतावादी समाज में इन मूल्यों का फिर से उजागरित होना कठिन है । समाज की इस गंभीर स्थिति का सही मूल्यांकन प्रभाकर माचवे ने अपने उपन्यासों द्वारा किया है ।

प्रभाकर माचवे के उपन्यासों में गाँधीजी की विकेंन्द्रीकरण नीति

महात्मा गांधी ने विकेंन्द्रीकरण को एक प्रमुख सामाजिक नीति मान ली थी । विकेंन्द्रीकरण नीति के अंतर्गत सत्ता का विकेंन्द्रीकरण तथा धन का विकेंद्रीकरण प्रमुखत: आते हैं । चाहे सत्ता हो, चाहे धन, जहाँ केन्द्रीकरण होता है वहाँ अनिवार्यत: प्रदूषण होता है । गांधीजी मानते थे कि किसी भी समाज में विकास के कार्य उस समाज के व्यक्तियों के

---

1. प्रभाकर माचवे, जो, पृ. 95.
2. वही, पृ. 98.

सहयोग के बिना असंभव नहीं तो अधूरा ज़रूर होगा । इसलिए गांधीजी चाहते थे कि केंद्रीय स्तर से लेकर ग्रामीण स्तर तक सत्ता का विकेंद्रीकरण हो जाय । इसी प्रकार गांधीजी चाहते थे कि अर्थ किन्हीं कुछ व्यक्तियों के मनमाने विनियोग की चीज़ न बन जाय । अर्थ का विनियोग लोक मंगलकारी दृष्टि से किया जाना चाहिए ।

अर्थ संग्रह - बुराई की जड़

प्रभाकर माचवे गांधीवाद के आधार पर बुराई की जड खोज रहे हैं । उनके अनुसार "बुराई की जड गरीबी है । और गरीबी की जड है - कुछ लोगों के पास ज़रूरत से ज्यादह पैसा बढ रहा है ।"[1] जिनके पास संपत्ति इकट्ठी रहती है वे समाज कल्याण केलिए यदि अपनी संपत्ति का विनियोग नहीं करता तो गरीबों की संख्या निस्संदेह बढ जाती है । गांधीजी का मत भी यही था ।

अर्थ संग्रह के बारे में गांधीजी का अपना एक विशेष दृष्टिकोण रहा है । वे अर्थ संग्रह के विरोधी नहीं थे । साथ-ही-साथ वे इस बात पर बल देते थे कि उस अर्थ का विनियोग लोकमंगलकारी लक्ष्य से किया जाय, न कि अपने स्वार्थ केलिए । यह आदर्श प्रोफेसर वर्मा के इन शब्दों में भी मुखरित है - वे किशोर को उपदेश देते हैं, पैसे से आनेवाली बुराइयाँ - अहंकार और विलासिता तुम में न बढे ।""पैसा भी एक तरह

---

1. प्रभाकर माचवे, दश भुजा, पृ. 69.

का नशा है । हिंसा-अहिंसा के बीच सूक्ष्म भेद का उसे ख्याल नहीं रहता । जो उस नशे से पीडित हो जाता है उसका विवेक खो जाता है ।[1] धन के प्रति गांधीजी का विचार मामाजी के इन शब्दों में स्पष्ट हुआ है -"पैसे को मैं माया समझता हूँ । मैल । यह आदमी को पागल बना देता है ।"[2] "पैसा साधन है, साध्य नहीं । वह कुछ सुविधायें और सुख खरीद दे सकता है । पर वह हमेशा केलिए आदमी को सुखी नहीं बनाये रख सकता । क्योंकि उसके साथ लगा हुआ मूल्य जो है वह अदलता बदलता है । जो निस्पृह और वैरागी है उसे पैसा आकर्षित नहीं करता । और चारों ओर रत्न-राशियाँ पड़ी हुई होने पर भी विदेह जनक उसे कुछ नहीं समझते थे । हर्ष और शाहजहाँ अपनी सारी संपत्ति का दान करके ही सुख पाते थे । पैसे की सार्थकता व्यय और दान में ही है । संचय और नाश में नहीं । यह मानवी अर्थशास्त्र समझ में न आने से पश्चिम के कई उपयोगितावादी और केवल-भौतिकवादी पैसे को ही मनुष्य का एकमात्र ध्येय मान बैठे ।"[3] इसलिए वे किशोर को उपदेश देते हैं -"किशोर पैसे को समाजोन्मुख बनाना होगा । उसे उसी दिशा में उन्मुख करना होगा, जहाँ से वह जनमा है । वर्ना वह रेगिस्तान में खो जायेगा । वह समुद्र में डूब जाएगा । वह केवल पर्वत कंदराओं में गडा रह जायेगा ।"[4]

एक ओर तो विरले ही सही सत्यवादी और आदर्शवादी लोग तो होते हैं तो दूसरी ओर ऐसे भी लोग होते हैं जो अर्थसंग्रह केलिए कोई भी कुकर्म कर सकता है । गांधीजी के देश में गुंडागर्दी से आजीविका

---

1. प्रभाकर माचवे, किशोर, पृ. 79.
2. वही, पृ. 67.
3. वही, पृ. 68-69.
4. वही, पृ. 69.

चलानेवाले भी होते हैं, जैसे सांचा का जाबर -"भगवान, जाबर, घनी मूँछों वाँबि के रंग, और सुर्ख आँखों का गुंडे जैसा जान पडनेवाला आदमी था । सब जानते थे कि वही "बदली दे सकता है । हर नये मज़दूर को कमाई का निश्चित अंश उसे देना ही पडता था ।"[1]

गाँव में सुधार लाने में संकल्पिता अदिति तथा अन्य सदस्य के बीच के बहस में यह तथ्य आ गया है कि लोग किसी भी अधम मार्ग से पैसा कमाना चाहते हैं तथा भोग विलास में उन्हें खर्च करना भी चाहते हैं - "इस देश में नैतिकता के मान बदल रहे हैं । अब डाकिया, गाँव की अकेली बुढिया को मनीआर्डर के पैसे नहीं पहुँचाता, खुद की जेब में डालता है - और किसी भी लडकी के अंगूठे के निशान लगाकर रसीद वापिस भेजनेवाले के पास भिजवा देता है । आज किस-किस को कहाँ तक रोकियेगा ?"- "इस देश में सभी को पैसे ही हाय मची है ।"कन्ज़्मरिज़्म" (विलास या उपभोग की चीज़ों का अधिक से अधिक उपयोग) हमारे अखबारों में बिखरा पडा है -रंगीन विज्ञापन देखिये - किन चीज़ों के हैं, किन प्रतिष्ठानों के हैं ?"[2]

राजनीति - धनार्जन का साधन

राजनीति तथा समाजसेवा भी धनार्जन के साधन हो गये हैं । उनका साध्य धन है, न कि जन मंगल । समाज सेवक मिस्टर "टों" को देखिए -"वह इतने ठाठ से कैसे रहता था - यह कोई नहीं पूछता था ।

---

1. प्रभाकर माचवे, सांचा, पृ. 47.
2. प्रभाकर माचवे, दश भुजा, पृ. 70.

हाँ वह बड़े-बड़े लोगों को जानता है । चाहे जिस वक्त, चाहे जिसका, चाहे जो काम करा देता है, यह बात सच थी ।"[1]

नारी समाज का सुधार

स्वस्थ समाज तथा सच्चे प्रजातंत्र केलिए नारियों की हालत का सुधार अत्यन्त ज़रूरी है । इसके संबंध में माचवे का कथन है - "उसके आयुध हमें बदलने होंगे । क्या हम नारी-जागरण की बात करनेवाले स्त्रियों के हाथों में सिलाई की मशीन, चरखा-करधा, ऊन बुनने की मशीन, हस्त-शिल्प के अनेक प्रकार, ललित कलाओं के चौंसठ रूप इस तरह दे नहीं सकते कि "अ-बला" शक्ति-स्वरूपा बन जाये । है यह कठिन मार्ग - वह स्वयम् उस पर चलकर अनुभव कर रही है कि "शक्ति" की साधना कितनी कठिन है । जब ऊर्जा के सारे स्रोत सूख जायें, तब वह भीतर से प्राप्त होती रहती है ।"[2] लेकिन जन नायक के रूप में अवतरित होनेवाले लोग विकेंद्रीकरण के विपक्ष में खड़े होते हैं -"सब बकवास हैं । मैं कहता हूँ । सब ग्वाले और घोसी यह इलाका छोड़कर चले जायें । खुद नहीं जायेंगे तो हम उन्हें मारकर भगा देंगे । समझे ? तुम बड़े उनके वकील बनकर आये हो । उनसे बोलो - भाव जो हम तै करेंगे वही लेना पड़ेगा । अपनी तरफ से उसमें कोई फर्क वे नहीं कर सकेंगे ।"[3]

---

1. प्रभाकर माचवे, दश भुजा, पृ. 72.
2. वही, पृ. 83.
3. वही, पृ. 90.

गाँधीवादी गुंडा

महात्मागांधी के आदर्शों की ओट में गुंडागर्दी करके स्वार्थ-धन-संग्रह करनेवाले आधुनिक राजनीतिक कार्यकर्ताओं का प्रतिनिधि है "किशोर" का दादा । किशोर को जब लाटरी मिली तब दादा उसे धमकी देता है -"ठीक तरह से मेरा हिस्सा दे वर्ना तेरा जीना मुहाल कर दूँगा ।"[1] राजनीतिक नेताओं की चिकनी चुपडी बातों से प्रभावित आम जनता की प्रतिक्रिया किशोर के शब्दों में स्पष्ट है -"भाई, यही तुम्हारी गरीब-अमीर एक बनाने की राजनैतिक प्रतिज्ञायें हैं । तुम पैसे के इतने लोभी होंगे यह मुझे कल्पना नहीं थी ।"[2]

लाटरी - गांधी विरोधी कार्यक्रम

जिस देश में अर्थसंग्रह को पाप समझा जाता है उसी देश में सरकारी तौर पर लाटरी चलायी जाती है । किशोर लाटरी को ठीक नहीं मानता था । वह उसे अनैतिक मानता था । उसे लाटरी एजेंट प्रेरित करता है लाटरी में शामिल हो जुआ खेलें । गांधीजी किसी भी प्रकार के संग्रह को अपराध मानते थे । उन्हीं गांधीजी के शिष्यों द्वारा संचालित सरकार गांधीजी के आदर्शों के खिलाफ में जनता को भटका रही है ।

छात्रों का कर्मपथ

भारत की आर्थिक स्थिति को सुधारने का सबसे सफल मार्ग

---

1. प्रभाकर माचवे, किशोर, पृ. 71.
2. वही, पृ. 71.

गांधीजी के अनुसार ग्राम स्वराज्य की स्थापना है । किशोर के भाई जी द्वारा माचवे इसी विचार का समर्थन करते हैं -"मैं तो विकेंद्रित ग्राम-स्वराज्य को ही राह मानता हूँ । विद्यार्थी रचनात्मक कार्यक्रम में लगे । डिग्रियों का मोह छोड़े । गाँवों की ओर चलें । वही भारत की समृद्धि की कुंजी है ।"[1] गांधी शताब्दी वर्ष में भी युवकों की दिग्भ्रमित अवस्था की सुन्दर अभिव्यक्ति माचवे के इन शब्दों के माध्यम से हुई है -"किशोर दिग्भ्रमित-सा चौराहे पर खड़ा है ।"[2] इसका समाधान गांधीजी के विकेन्द्रीकरण ही में हैं । सहकारिता के आधार पर कोई भी काम बिना किसी सभ्यता के संभव बनाया जा सकता है ।

वर्ग सहयोग का व्यावहारिक पक्ष

तीस-चालीस-पचास का वासुदेव विकेंद्रीकरण को व्यावहारिकत की दृष्टि से देखते हैं -"पूँजी को क्या चाटेंगे, अगर उसका उपयोग करनेवाला समाज न हो । मंडियाँ तभी होगी जब माल होगा । माल तभी होगा जब उसे पैदा करनेवाला होगा ।"[3] अनिरुद्ध नामक पात्र के माध्यम से माचवे इस बात पर बल देते हैं कि "फैशन की चीज़ों का उत्पादन नहीं बल्कि सबको "खाना-कपड़ा-मकान" का इन्तज़ाम होना चाहिए । इस केलिए उत्पादन का बढ़ावा ज़रूरी है -"उत्पादन तब तक नहीं बढ़ेगा जब तक मज़दूर या किसान खेत और कारखाने अपने न समझें । यानी कि अनाप-शनाप वैयक्तिक संपत्ति को नष्ट करना होगा । पर क्या सारी संपत्ति का राष्ट्रीयकरण ही एकमात्र रास्ता है ? क्या वह संभव भी है ? और हो, तो भी क्या वह

---

1. प्रभाकर माचवे, किशोर, पृ. 95.
2. वही, पृ. 104.
3. प्रभाकर माचवे, तीस-चालीस-पचास, पृ. 132.

श्रेय हैं ।"[1] धन संग्रह न करने के गांधी-सिद्धांत को यहाँ ज्यों-का-त्यों उतारा गया है । वैसे ही मोहन के शब्दों में भी गांधीजी के आदर्शों की अभिव्यक्ति हुई है - "हर कोई अपने पेट भर कमाये । जमाखोरी की क्या ज़रूरत है ? किस केलिए ? कौन पैसा अपनी छाती पर लादकर ले जाता है ? दुनिया में छोटे-छोटे देशों में राज पलट जाते हैं । कोष के कागज़ी सिक्के क्रांतियों के बाद रद्दी के भाव बेच दिये जाते हैं । इसलिए आदमी की दौलत तो सिर्फ उसके हृदय के भीतर का प्रेम-भाव है । और धरा क्या है ।"[2]

गांधीजी की विकेन्द्रीकरण नीति को प्रभाकर माचवे ने जीवन के विभिन्न प्रसंगों से जोडकर प्रस्तुत किया है । इसलिए वे बहुत प्रभावोत्पादक हो गए हैं । सत्ताधारियों तथा आर्थिक दृष्टि से उच्च स्तर के लोगों में गांधीवाद के इस पहलू के प्रति जो नकारात्मक दृष्टिकोण है, वह माचवे के उपन्यासों में स्पष्टत: झलकता है ।

प्रभाकर माचवे के उपन्यासों में गांधीजी की वर्ग सहयोग नीति का सर्वेक्षण

भारत का निम्नवर्ग छुआ-छुत की पकड में दबता जा रहा था । उनका बेहद शोषण हो रहा था । समाज के एक प्रमुख अंग का इस प्रकार अविकसित रहना समाज के समग्र विकास में हानिकारक ज़रूर था । इसी कारण वर्ग सहयोग को गांधीजी ने सामाजिक सुधार का एक अनिवार्य

---

1. प्रभाकर माचवे, तीस-चालीस-पचास, पृ. 132.
2. वही

साधन माना था । गांधीजी का विचार था इस नीति की प्रतिष्ठा के बिना समाज का समग्र विकास असंभव है क्योंकि किसी समाज का समग्र विकास तब तक संभव नहीं होगा जब तक प्रत्येक व्यक्ति को समान स्तर तथा अधिकार प्राप्त नहीं हो जाता । लेकिन भारत का निम्न वर्ग सदियों से शिक्षार्जन के अधिकार तक से वंचित रहा है । इस तथ्य को अभिव्यक्त करते हुए माचवे कहते हैं - "हम ऐसी भाषा का क्या करेंगे जो सबकी समझ में नहीं आती, जिसकी पढाई शूद्रों को मना है, जो पुजारियों की ताल-पत्र की पोथियों में बन्द पडी है । वह देववाणी हमारी वाणी नहीं है ।"[1] वर्ण-भेद की हानिकारक स्थिति का चित्र ही माचवे ने यहाँ अंकित किया है ।

गांधीजी के प्रयास के फलस्वरूप आज "छुआछूत हमारे कानून के खिलाफ है । हमारा संविधान सबको समान मानता है ।"[2] लेकिन उच्च वर्ग के कुछ लोग आधुनिक समय में भी उसका विरोध करते हैं । उनके अनुसार सब गडबडी का कारण वही है । "सब नीची जातवाले सिर पर चढकर बैठ गये हैं ।"[3] उनकी शिकायत है कि "अब तो कोई किसी की सुनता नहीं । सबको सिर पर चढाइये । सफाई कौन करेगा ?"[4]

धनाश्रित वर्ग विभाजन

आज भी समाज में निम्नवर्ग को व्यापक रूप से तंग किया जाता रहा है । समाज के दृष्टिकोण इतना अंतर ज़रूर आया है कि आज

---

1. प्रभाकर माचवे, जो, पृ. 92.
2. प्रभाकर माचवे, किशोर, पृ. 4.
3. वही
4. वही

निम्नवर्ग उच्चवर्ग का विभाजन संपत्ति के आधार पर ही हैं । गरीब ही आज का निम्नवर्ग है । यह तथ्य किशोर में प्रस्तुत हुआ है । किशोर को सब "हल्की" जान का कहते थे । "गरीब है इसलिए दुकानदार उसे पास नहीं फटकने देते । बस में भी सामान्य आदमी का वर्ग-बोध कपडे पर आश्रित है । जिसके तक दक साफ-झक कपडे हुए, उसे झट से जगह मिल जाती है । कंडक्टर भी उससे मीठी जबान से बातें करता है ।"[1] "पैसा है तो प्रतिष्ठा है । प्रतिष्ठा है तो उसके आगे सारे दोष धम्य है ।"[2] जो गरीब है उस पर समाज की घृणा भरी दृष्टि आ पडती है । इसलिए किशोर के मन में किसी- न-किसी प्रकार कुछ कमाने की इच्छा जागृत होती है । किशोर जब कमाने लगा तो दुनिया का रंग ही बदल जाता है । घर के अंदर तथा बाहर के लोगों का उसके प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन आ गया । गांधीजी की आर्थिक नीति को आत्मसात करने में समाज की उदासीनता का स्पष्ट चित्र माचवे ने यहाँ उतारा है । पहले जो सौतेली माँ किशोर से कहा करती थी कि "उन्नीस बरस का घोडा हो गया है । और लोगों के बच्चे तो इतनी उम्र में कमाने लगते हैं । ठिकाने लग जाते हैं ।"[3] लाटरी मिल जाने के बाद वह पूछती है -"किशोर, चाय पिएगा ? आज मैं चीनी की अच्छी खूब दूध की चाय बना दे रही हूँ ।"[4]

धर्माश्रित धनार्जन

यह सुविदित है कि धर्म कई लोगों की आजीविका का साधन है । यानी भारत में धर्म के साथ आर्थिक संबंध जुडे रहते हैं ।

---

1. प्रभाकर माचवे, किशोर, पृ. ।।.
2. वही, पृ. 41.
3. वही, पृ. 2.
4. वही, पृ. 65.

साधारण-से-साधारण जनता किसी-न-किसी मिन्नत के नाम पर मंदिरों में अपनी संपत्ति के अंश दे देती है । इस प्रकार मिलनेवाले सारे धन मंदिरों में इकट्ठे रहते हैं । उसका दुरुपयोग हो जाता है । धर्म के नाम पर दंगे, कुरीतियों, और आर्थिक दुरुपयोग भी होते हैं । लगातार होनेवाले दंगों के बारे में माचवे कहते हैं -मेरी समझ में नहीं आता कब यह धर्म का भूत हमारे सिर से उतरेगा । मैं चाहूँ तो देश के सारे देवालय खुदवाकर उखाड फेंकूँ । सबके अस्पताल और स्कूल बनवा दूँ । क्यों चाहिए भगवान के नाम पर जीनेवाले ये तुँदियल श्राद्धभोजी, बेकार के परोपजीवी, ये अमर बेलें ?"[1] माचवे की दृष्टि में धर्म जो मानसिक संस्कार का साधन होना चाहिए वह मनुष्य को बर्बर बना देता है । इसलिए देवालयों को उखाड दिया जाना चाहिए । देवालय के सहारे जीनेवाले परोपजीवियों को वहाँ से निकाल देना चाहिए । क्योंकि वे मनुष्य को आपस में लडाते हैं । धर्मस्थानों में जो आर्थिक दुरुपयोग होता है उसके बारे में माचवे कहते हैं -"मेरा बस चले तो धर्मादाय, ट्रस्ट और इतने सारे देवस्थानम् के लंबे-चौडे चन्दे मैं आर्थिक योजनाओं में लगा दूँ । जब करोडों इंसान बेरोज़गार हों तो क्या फायदा है ऐसे सोने के खम्भे और सोने से मढे देवालय कलश जमा रखने से ?"[2] इतने सारे पैसे व्यर्थ बहा दिए जाते हैं फिर भी निम्न वर्ग को सुधारने केलिए कुछ नहीं किया गया है - "क्या किया इतने हज़ार बरसों में ? क्या किया हिन्दुओं ने हमारे लिए ? क्यों न हम धर्म-परिवर्तन कर डालें ? क्या है हमारा भविष्य ? कितने वर्ष लगेंगे हमें सभ्य नागरिकों के समकक्ष आने केलिए ?"[3] यह, बरसों से दबे-कुचले निम्न वर्गीय समाज की स्वाभाविक प्रतिक्रिया है । उनके हृदय में घनीभूत छटपटाहट माचवे के इन शब्दों में मुखरित हुई है ।

---

1. प्रभाकर माचवे, जो पृ. 118.
2. वही
3. वही, पृ. 119.

वर्ण भेद से जुड़े हुए कुछ प्रसंग

वर्ण भेद के अनेक प्रसंग माचवे ने अपने उपन्यासों में चित्रित किया है । दक्षिण भारत की कुछ घटनाएँ इस प्रकार हैं । शंकरन् नामक एक अन्त्यज को मूँछें रखने के कारण दंड दिया गया था । "उसकी मूँछें जला दी सवर्णों ने ।"[1] शेषन नामक एक ग्रामीण लड़के केरल से एक अय्यर लड़की को भगाकर ले आया । "अब सारा तेल्लिचेरी उस शेषन के परिवार-झोंपड़े को जलाकर भून देने केलिए जैसे मचल रहा है । क्या यही है समानता की डींग उस केरल में जहाँ दो साल तक समाजवादी शासन रहा ?"[2]

"उस दिन नागप्पा के घर की बुढ़िया गलती से उस मुहल्ले से निकल गयी जहाँ आबा का कोविल {मन्दिर} है । उसे मारने केलिए दौड़े पुजारी, जब वह मंदिर से सत्तर हाथ दूरी पर थी ।"[3] भारत में वर्ण भेद के नाम पर जो अत्याचार चल रहे हैं उनके बीच में उक्त घटनाएँ बहुत हल्की बतायी जा सकती हैं ।

वर्ण भेद की व्यापकता

वर्ण भेद से जुड़े हुए अत्याचार मात्र भारत में ही नहीं चलते, दुनिया - भर में ऐसी घटनायें निरंतर चलती रहती हैं । वर्ण भेद की जो भीषण स्थिति अमरीका में उपस्थित है उसका चित्रण करके प्रभाकर माचवे ने

---

1. प्रभाकर माचवे, जो, पृ. 118.
2. वही
3. वही

किसी देश या जनसमूह की प्रगति केलिए वर्ग सहयोग की अनिवार्यता पर बल दिया है । "जो" में इस सामूहिक संकट को एक व्यक्ति विशेष (जो) के संदर्भ में चित्रित किया गया है । अत: संपूर्ण संवेदनायें घनीभूत होकर उभर आयी हैं ।

"किशोर" के प्रो. वर्मा गांधी आदर्शों को आत्मसात करके उन्हें अपने जीवन का आदर्श बनानेवाला है । उन्हें सचमुच माचवे जी ने गांधी विचारों का वक्ता बना दिया है । यह ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि किशोर में अनेक पात्र है, फिर भी मात्र एक प्रोफसर वर्मा है जो गांधीजी के आदर्शों का पालन करते हैं । यह भारतीय समाज का एक सच्चा चित्र है । यद्यपि भारत के करोडों लोगों केलिए गांधीजी रखवाले के समान है, फिर भी उनके आदर्शों को अपनाने में भारतवासी विमुख रहते हैं । इस तथ्य को चाहे जान-बूझकर ही सही, माचवे ने स्पष्ट तो किया है ।

गांधीजी किसी भी धर्मविशेष को बुरा नहीं मानते थे । वे "सर्वधर्म स्वभाव" में विश्वास करते थे । "परंतु" का अविनाश गांधी के इन गुणों का बखान करते हैं -"हमारा गांधी तो उनकी लिपि, उनकी कुरआन उनकी अच्छी बातें सीखने-पढने जज्ब करने को कहता है ।"[1]

"जो" में प्रभाकर माचवे बडे शुभेच्छुक है कि दुनिया में

---

1. प्रभाकर माचवे, परंतु, पृ. 80.

वर्ग सहयोग कायम होगा - "मुझे अमरीका में हुए "सिट-इन" सत्याग्रह में गांधीजी के सिद्धांतों और नीतियों की सफलता एक ऐसी बात लगती है जिससे बहुत आस्था और आशा जगती है दुनिया एक होकर रहेगी, वर्ण भेद मिटकर रहेंगे । चाहे वह मेरी या आपकी एक ज़िन्दगी या पीढी में न हो सके । पर यह एक नैरंतर्य एक "कंण्टीन्युएम" है जो कैसे मिटेगा ? हम नहीं रहेंगे, पर हमारी यह नयी दुनिया की सर्जनाकांक्षा रहेगी, जहाँ समता और स्वतंत्रता सब केलिए होगी ।"[1]

गांधीजी ने वर्ग सहयोग को बढावा दिया था । समाज के समग्र विकास केलिए यह आवश्यक है । आधुनिक समाज में वर्गभेद वर्ण के आधार पर न होकर ज़्यादतर संपत्ति के आधार पर हो गया । इस बदलाव के कारण प्रत्येक व्यक्ति किसी भी मार्ग से धन बटोरने का प्रयास करने लगे । इस प्रकार गांधीजी के वर्ग सहयोग नीति के आगे एक अगम्य बाधा आ खडी है । फिर भी माचवे आशान्वित है कि एक-न-एक दिन गांधीजी की वर्ग-सहयोग नीति पूर्णतः सफल होगी ।

प्रभाकर माचवे के उपन्यासों में गांधीजी की सत्याग्रह नीति का प्रणयन

अत्याचारी अधिकारियों को सत्य के मार्ग पर लाने के लिए गांधीजी ने सत्याग्रह को अपना औजार बनाया था । सत्याग्रही का लक्ष्य अपने स्वार्थ की जीत नहीं होनी चाहिए बल्कि अत्याचारी का हृदय परिवर्तन होना चाहिए । जिस सत्य पर सत्याग्रही का अटल विश्वास

---

1. प्रभाकर माचवे, जो {लेखक की ओर से}, पृ. 7.

है उसका बोध अत्याचारी को भी दिलाने का प्रयास सत्याग्रही करता है । उस केलिए वह किसी भी प्रकार के हिंसात्मक कार्य नहीं करता । क्योंकि बलपूर्वक किसी भी प्रकार की सफलता हासिल करना सत्याग्रही का लक्ष्य नहीं हो सकता ।

लेकिन आज के नेता तोड-फोड तथा हिंसा के माध्यम से अपना लक्ष्य हासिल करना चाहते हैं । किशोर का बस जलाना इसी का अंग है । वहाँ क्या क्या नहीं हुआ -"गोली चल गयी", दो छात्र मर गए ।", "दमनचक्र शुरू। करफ्यू । विद्यार्थी सारे कालेज में निष्कासित कर दिये जाएँगे ।" "फिर शोर-मारो । पीटो । पत्थर, लाठियाँ, घूँसे, अश्रुगैस, घुडसवार, कोडे, पुलिस की जालीवाली बंद गाडियाँ, चीखते चिल्लाते छात्र गिरफ्तार - एक पूरा प्रलय - जैसा अराजक {पैंडेमोनियम}, वर्णन पुराणों में पढे थे देवासुर संग्राम के ।"[1]

यह आधुनिक समय की एक विडंबना है कि "अब लोग एक जगह किसी अच्छे काम केलिए जुटने, जमा होने से डरने लगे हैं । सब अच्छे काम संदेह से भरे हो गये ।"[2] यही वह मूल समस्या है । जब राक्षस बढने लगते हैं तो देवी क्या करें ? शक्ति क्या केवल असत् की ही होती है ? यह सत् की शक्ति उसके सामने केवल पराजित होती रहती है ?"[3] गांधीजी के सत्याग्रह की प्रासंगिकता इसी संदर्भ में हैं । उन्होंने असत् को जीतने केलिए सत्य को साध्य मानकर लडाई की । उनका साधन था सत्याग्रह ।

---

1. प्रभाकर माचवे, किशोर, पृ. 26.
2. प्रभाकर माचवे, दश भुजा, पृ. 83.
3. वही

प्रभाकर माचवे इस बात पर बड़ा अफ़सोस प्रकट करते हैं कि गांधीजी तथा उनके आदर्शों को आज के युवक भूल गये हैं । इस बात पर अपने विचार उन्होंने एक विदेशी पात्र टोम के द्वारा स्पष्ट किया है -"मैं देखता हूँ कि भारत गांधी का नाम लेता है, पर इस देश में उनकी बातों पर बहुत कम अमल होता है । विद्यार्थियों को उनकी सीख का पता नहीं है । वे सब पश्चिम की टैक्नोलॉजी की ओर देख रहे हैं । कल मेरी एक छात्र से बात हुई - वह तो भारत को अणु-बम बनाना चाहिए ऐसा कह रहा था ।"[1] माचवे स्पष्ट करना चाहते है कि भारतवासी गांधी तथा उनके विचारों को महान मानते हैं । लेकिन उन आदर्शों को अपने जीवन में कोई स्थान नहीं देते । वे अपने हल्के लक्ष्यों की सफलता केलिए आसानी से हिंसात्मक मार्ग अपनाते हैं । यह "हिंसा का प्रेम" हमेशा दुनिया में देखा जा सकता है, आज भी है । "उसका रूप चाहे बदल गया हो । अब चक्रवर्ती बनने केलिए अश्वमेध के घोडे नहीं छोड जाते, फौजें भेजी जाती हैं । देशों के नाम लेना व्यर्थ है - सभी जगह इस तरह के विस्तारवादी इरादे पाए जाते हैं ।"[2] सत्याधिष्ठित मार्ग से शोषक को सत्य का बोध कराके जिस प्रकार गांधी सत्य को संस्थापित करना चाहते थे वह नीति आधुनिक समय में निरर्थक मान लिए जाने लगी हैं । सत्याग्रह को गांधीजी ने ऐसा औजार बनाया था जिससे सशक्त से सशक्त शोषक तथा अत्याचारी को भी रास्ते पर लाया जा सकता था । लेकिन यह आसान कार्य नहीं है -"मेरे मन को बार-बार आदिवासी जंगलों की बात झकझोरती है । उसमें कई वन्य पशु हैं । हमने अब शिकार भी बन्द करा दिया है । कई हिस्सों को ज्योंका त्यों पालतू जंगल की तरह रहने दिया है । सभ्यता के इतिहास में भी कई हिस्से, कई राष्ट्र, कई जमातें कई तबके हमने यों ही उपेक्षित छोड दिये । वहाँ हथियाघास

---

1. प्रभाकर माचवे, किशोर, पृ.51.
2. वही, पृ.80-81.

उगने दी । ज़हरीली जड़ी-बूटियाँ पेड़ों पर चढ़ने दीं, अजगरों को वहाँ रेंगने दिया । अब हम अपने छोटे-छोटे सुधार और हृदय-परिवर्तन के खुरपे और कुदाल ले-लेकर चले हैं जंगल साफ करने । हम, जिन्हें बागीचा सँवारने को भी तमीज़ नहीं । यह काम शब्दों की कसरत से नहीं होते । यह काम लम्बे - चौड़े लच्छेदार उपदेश और भाषणों से नहीं होते । यह काम सिर्फ पवित्र इच्छाओं से, दुआओं से नहीं होते ।"[1]

सत्याग्रह की महत्ता का उल्लेख मार्टिन लूथर किंग ने भी किया है । किंग का परामर्श करके माचवे लिखते हैं - इस अहिंसक सत्याग्रह में स्वेच्छा से सहन करने की शक्ति, प्रतिरोध न करने की संकल्प-शक्ति, प्रधान है । गांधी ने अपने देशवालों को कहा था - खून की नदियाँ चाहें बहानी पड़ें, पर वह खून अपना होगा । अहिंसक सत्याग्रही प्रतिहिंसा कभी कर ही नहीं सकता ।"[2]

यांत्रिक आंदोलन की पकड़ में पड़े आधुनिक मनुष्य की दृष्टि में गांधीजी के हृदय परिवर्तन संबंधी विचार निरर्थक है -"इस प्रकार से भला कभी अमीरों का हृदय-परिवर्तन हुआ है ? मनुष्य एक बार पैसा कमाने के चक्कर में पड़कर एकदम साँचे की तरह यांत्रिक भाव से काम करता है । वह भला कभी बदल सकता है ? परिवर्तन तो तब हो, जब उसमें हृदय के तत्व बचे हों ।"[3]

---

1. प्रभाकर माचवे, जो, पृ. 72.
2. वही, पृ. 108.
3. प्रभाकर माचवे, सांचा, पृ. 37.

उपसंहार

भौतिकवाद के तेज़ प्रचार के कारण आधुनिक समाज औद्योगीकरण को अवाँछित महत्व देता है । इसलिए व्यावहारिक जीवन में गांधीवाद की अपेक्षा बहुत कम की जाती है । भौतिकवाद मनुष्य के बाहरी जीवन से जुड़ा हुआ है जबकि गांधीवाद आंतरिक जीवन से । अर्थात् भौतिकवाद हमेशा मनुष्य के शारीरिक सुख को बढाने का प्रयास करता है । इसके विपरीत गांधीवाद शारीरिक सुख का त्याग कर आध्यात्मिक सुख को बढाने का प्रयास करता है ।

भारत एक धर्मप्रधान देश रहा है । इसलिए गांधीवाद भारतवासियों केलिए अनुकूल जीवन पद्धति भी है । लेकिन आधुनिक समय में इस आध्यात्मिकता में दरारें आ गई हैं । भौतिक सुख-सुविधाओं को अधिक प्रमुखता दिए जाने के कारण मनुष्य अधिक स्वार्थी हो गया है । मनुष्य के सभी व्यवहार आर्थिक लाभ की दृष्टि से जाने लगे हैं । इस प्रकार गांधीवाद की उपेक्षा तथा अवहेलना हो रही है ।

समाज के इस बदलाव का सुन्दर चित्रण प्रभाकर माचवे ने अपने उपन्यासों में प्रस्तुत किया है । अथवा यों कहिए कि समाज में होनेवाले मूल्यविघटन की स्थिति का गांधीवाद की कसौटी पर मूल्यांकन किया गया है ।

अध्याय छः

प्रभाकर माचवे के उपन्यासों का शिल्प

प्रभाकर माचवे स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासकार हैं । यद्यपि स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास का विषय तथा शिल्प की दृष्टि से पूर्ववर्ती परंपरा से संबंध है, फिर भी एक अनिवार्य परिणाम के रूप में स्वातंत्र्योत्तर काल में रूपायित शिल्पविधि ने अपना अलग अस्तित्व कायम रखा है । पराधीन परिवेश से स्वतंत्र भारत का परिवेश काफी भिन्न रहा है । जीवन परिवेश में जो परिवर्तन होता है, उसका प्रभाव रचना में भी पडता है । क्योंकि उपन्यासकार अपने समय के जीवन को ही प्रस्तुत करता है । विषय परिवर्तन के साथ अभिव्यक्ति के प्रकारों में भी परिवर्तन आना सहज और स्वाभाविक है । यह कथन माचवे के संदर्भ में भी बेहद सही है ।

माचवे प्रयोगकर्मी उपन्यासकार के रूप में प्रसिद्ध हैं । उनके उपन्यासों की शिल्प विधि इसको प्रमाणित करती है । उन्होंने उपन्यास को परंपरागत वर्णन शैली के ढाँचे से बाहर लाया है । इस दृष्टि से उन्हें उपन्यास रचनाकार की अपेक्षा उपन्यास कलाकार कहना अधिक समीचीन है । यह भी द्रष्टव्य है कि साहित्य में प्रयुक्त प्राय: सभी विधाओं का प्रयोग बडी कुशलता से माचवे ने अपने उपन्यासों में किया है ।

स्वातंत्र्योत्तर काल अनेक कारणों से परिवर्तन का समय रहा है । जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में यह दिखाई देता है । जन साधारण में आज़ादी का आत्मविश्वास प्रकट होने लगा । साहित्य में भी इसका विशेष प्रभाव दिखायी पडा । बदलते सामाजिक परिवेश को आत्मसात करके

अभिव्यक्त करने केलिए प्रत्येक लेखक अपनी अपनी शिल्पविधि ढूँढने लगे । अत: जितनी भी रचनायें इस कालावधि में प्रकाशित हुई उनकी अपनी-अपनी शैल्पिक विशेषतायें दिखाई देती है ।

माचवे के उपन्यासों की शिल्पविधि

भारतीय साहित्य पश्चिमी साहित्य से हमेशा प्रभावित रहा है । इस का एक उत्तम प्रमाण है लघु उपन्यास । अर्थात् लघु उपन्यास की शिल्पविधि का पश्चिमी उपन्यास साहित्य के साथ निकट संबंध रहा है ।

चेतना प्रवाह पद्धति

मानव-मन में विचारों का प्रवाह खण्ड-खण्ड से होता है । इन विचारों का आपस में कोई संबंध हो या नहीं, यह निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता । अर्थात् व्यक्ति के कार्य-कलापों तथा मानसिक अवस्था के आधार पर ही उसके विचारों का प्रवाह होता है । माचवे ने इसी शैली को अपने उपन्यासों में अपनाया है । उन्होंने कुछ घटनाओं को जिनका कभी-कभी आपस में कोई संबंध नहीं है, प्रयोग करके उपन्यास प्रस्तुत किया है । इसका

---

1. पाश्चात्य उपन्यास साहित्य में जेम्स ज्वायस के "यूलीसस" व "फिनेगान्स" तथा वर्जीनिया वुल्फ के "वेव्सज" आदि के रूप में अनेक शिल्पगत प्रयोग हुए । इन्हीं से प्रेरणा ग्रहण कर हिन्दी में सर्वप्रथम प्रभाकर माचवे ने चेतना प्रवाह पद्धति द्वारा विषय का विकेन्द्रीकरण कर "परंतु" की रचना की ।

यह माना नहीं कि उपन्यास के नाम पर कुछ विकल शब्द प्रयोग ही माचवे ने किया है । असंबद्ध दीखनेवाली घटनाओं को एक सूत्र में पिरोने का काम माचवे ने उपन्यास के दौरान कहीं न कहीं किया है । इस प्रकार वे घटनायें आखिर ऐसे ही कथा-शरीर के अभिन्न अंग लगने लगती हैं ।

हिन्दी उपन्यास साहित्य में "परंतु" का आगमन एक बड़ी घटना थी । माना जा सकता है कि चेतनाप्रवाह पद्धति का प्रवर्तन इस उपन्यास के द्वारा हुआ है । माधुरी खोसला का कथन है - 'पाश्चात्य उपन्यास साहित्य में जेम्स ज्वायस के "यूलीसस" व "फिनेगान्स" तथा वर्जीनिया वुल्फ के "वेव्सज" आदि के रूप में इस प्रकार अनेक शिल्पगत प्रयोग हुए । इन्हीं से प्रेरणा ग्रहण कर हिन्दी में सर्वप्रथम प्रभाकर माचवे ने चेतनाप्रवाह पद्धति द्वारा विषय का विकेन्द्रीकरण कर "परंतु" नामक उपन्यास की रचना की । यह हिन्दी लघु उपन्यासों के शिल्पगत प्रयोगों में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है क्योंकि इसका महत्व कथ्य की अपेक्षा कथन शैली, नये-नये टैकनीकों के प्रयोग के कारण अधिक है ।'[1]

"परंतु" के संदर्भ में यह स्पष्ट दीखता है कि उसमें अनेक घटनायें कही गयी हैं जिनका प्रथम दृष्टि में कोई संबंध नहीं है । उन्हें एक साथ गुँथने का कार्य उपन्यास के आखिरी परिच्छेद में हुआ है । हेम, अनीता, अमिय आदि अविनाश से संबंध है । इस संबंध में अविनाश की चेतना में जो

---

1. माधुरी खोसला, हिन्दी के लघु उपन्यासों का शिल्प, पृ. 117.

संवेदना जागृत होती है उसे उपन्यासकार ने काफी सूक्ष्मता से प्रस्तुत किया है । इसके साथ एक ज्वलंत समस्या उभर आती ही है - मनुष्य में सहज रूप में जो पशुता निहित है, उससे मुक्त होना सामान्यत: असंभव है । लेकिन इस पशुता पर मुखौटा पहनते हुए तथा आदर्शवाद पर अटल रहने का आभास देते हुए उससे आसानी से हट जाता है । यह वैयक्तिक त्रासदी नहीं बल्कि संपूर्ण समाज की विडम्बना है । "परंतु" में सिद्धांतवादी संपादक स्वार्थ लाभ के लक्ष्य से सारे आदर्शों को भूल जाते हैं । बाहरी तौर पर नृत्य संघ का विरोध करनेवाला लक्ष्मीचंद अपने घर पर नाच का कार्यक्रम चलाता है । फिर संपादकों का मुँह रूपयों से बंद कर देता है । "परंतु" में कई पात्र हैं । और सभी पात्र अविनाश रूपी सूत्र से बंधे हुए हैं । माधुरी खोसला के मत में, "परंतु" वास्तव में अनेक स्केच है । इनका नामकरण पात्र विशेष के आधार पर किया गया है और इन सब को एक सूत्र में बाँध कर उपन्यास का रूप दिया गया है । यह सूत्र है - अविनाश जिसके चारों ओर हेम, अनीता व अमिय की संवेदनाओं को गूँथ कर लेखक ने संसार के सार्वभौमिक व सार्वकालिक प्रश्न को उठाया है ।"[1]

"परंतु" के विभिन्न पात्रों द्वारा माचवे दिखाना चाहते है कि आज का मानव नकाबपोश है । वह एक प्रकार का अवसरवादी है । इसके उत्तम उदाहरण हैं अनीता, अमिय आदि । अविनाश अनीता को सचमुच प्यार करता है, फिर अनीता धन के मोह से अमिय के पीछे जाती हैं । इस बात पर अमिय भी चकरा जाता है, जब अनीता फिर एक करोडपति के पीछे जाती है । अमिय, कला बेचनेवाला है तो सामाजिक गतिरोध

---

1. माधुरी खोसला, हिन्दी के लघु उपन्यासों का शिल्प, पृ. 117.

लानेवाले असामाजिक तत्वों का प्रतिनिधि है सेठ लक्ष्मीचन्द । इस प्रकार समाज के भिन्न-भिन्न क्षेत्र के भिन्न-भिन्न स्वभाव के व्यक्तियों को माचवे ने परंतु में सम्मिलित किया है । इस सम्मिलन के माध्यम से माचवे ने भावों के मुक्त संसर्ग अथवा चेतना प्रवाह शैली के पल्ले पकडकर अपने विचारों की अभिव्यक्ति भी दी है । यही इस उपन्यास की सबसे बडी विशेषता है ।

"परंतु" के शीर्षक की सार्थकता के संबंध में भी कहना अनिवार्य है । क्योंकि इस शब्द का उपन्यास के प्रत्येक खण्ड के अंत में आवर्तन हुआ है । यह शब्द समाज में आज जो गतिरोध महसूस होता है, उसी को अभिव्यक्त करता है । आधुनिक मनुष्य के जीवन के प्रत्येक मोड पर यह एक "परंतु" रास्ता रोककर खडा हो जाता है । अर्थात् मनुष्य हमेशा उत्कण्ठा, चिन्ता, निष्क्रियता, आत्मकेन्द्रिता, नकारात्मक आदर्श आदि के कारण आगे बढ नहीं पाता है । इस गतिरोध की सबसे सफल अभिव्यक्ति "परंतु" शब्द के माध्यम से हुई है । "इस प्रकार नामकरण की कुशल योजना उपन्यास को एक शिल्पगत विशिष्टता प्रदान करती है और यह एकांत नूतन है ।"[1]

संक्षेप में "परंतु" में उपन्यास लेखन की एक नवीन शैली अपनायी गयी है । चेतनाप्रवाह पद्धति पात्रों के अंतरमन के संघर्ष को प्रस्तुत करने में सहायक है । यह सुविदित है कि माचवे के पात्र उनके विचारों की अभिव्यक्ति के साधन मात्र हैं ; भले ही ये पात्र यथार्थ भी क्यों न हो ।

---

1. माधुरी खोसला, हिन्दी के लघु-उपन्यासों का शिल्प, पृ. 118.

पात्र विशेष की चारित्रिक विशेषतायें, मजबूरियों आदि चेतना प्रवाह पद्धति के माध्यम से स्वयं भी प्रस्तुत हो जाती है । उदाहरण केलिए आदिम प्रवृत्ति को दबाये रखने से मनुष्य के मानसिक स्तर पर कितना बडा विस्फोड हो सकता है, उसका सजीव चित्रण अविनाश के माध्यम से माचवे ने किया है । इस प्रकार माचवे की उपन्यास यात्रा में "परंतु" एक सफल कदम कहा जा सकता है ।

पुरुष-प्रधान समाज में नारी की अस्मिता की समस्या -"दाभा"

"दाभा" की कई अलग विशिष्टताएँ है । माचवे ने इस उपन्यास के माध्यम से कुछ नये टेकनिकों का सफल प्रयोग किया है । कथानक से गुज़रते समय हमें पता चलता है कि श्री और आभा की खण्डित मानसिकता है । यह इन दोनों के जीवन परिवेश से उद्भूत है । सुहाग रात को श्री अपना पौरुष दिखाकर आभा पर तृप्त हो जाता है । उससे आभा के मन में एक प्रकार का डर उत्पन्न होता है और श्री से विरक्त भी होती है । श्री आभा से अलग होकर श्यामा का सहारा लेता है ।

श्री को छोडकर आभा भी सत्यकाम से जुड जाती है । अपने पति से विद्रोह करने केलिए ही आभा, सत्यकाम के साथ संबंध रखती है । बचपन में ललाम नामक एक साथी के साथ भी उसका संबंध रहा था । इसी प्रकार श्री भी अनेक लडकियों के साथ संबंध रखता है । हर बार वासना की तृप्ति संभव होने के साथ संबंध भी खतम हो जाता था ।

माचवे ने विभिन्न व्यक्तियों के तरह-तरह के विचारों तथा उनकी मानसिकता को व्यक्त करने केलिए साहित्य को विभिन्न विधाओं का आश्रय लिया है । गद्य काव्य, निबंध, कविता, रेखाचित्र, गज़ल, शेर, स्तोत्र, डायरी, कहानी, लोक कथा, पत्र, श्लोक आदि विधाओं उन्होंने अपनाया हैं । ये विधायें कुलमिलाकर उपन्यास बन जाती हैं । इस उपन्यास के अंत में एक भूमिका लिखी गयी है । जिसमें उल्लेख है कि वह नारी पत्रिका केलिए लिखा गया लेख है । उसमें उन्होंने यह भी कहा है कि बड़ी उम्र तक अनब्याही रहने पर अतृप्त नारियों को हिस्टीरिया पकडती है । उपन्यास में श्यामा के चरित्र से इसका काफी संबंध है ।

उपन्यास के अंतर्गत डायरी विधा का बार-बार प्रयोग हुआ है । श्यामा, श्री, अमिता, निर्मल आदि के डायरी के पन्ने इस उपन्यास में प्रस्तुत हैं । श्यामा की डायरी के माध्यम से माचवे ने विभिन्न महान व्यक्तियों द्वारा प्रस्तुत नारी संबंधी विचार प्रस्तुत किये हैं । उपन्यास के दसवाँ और चौदहवाँ अध्याय श्री की डायरी है । ग्यारहवाँ अध्याय अमिता की और बारहवाँ अध्याय निर्मल की डायरी है । इनमें से इन पात्रों के मनोभावों, चारित्रिक विशेषताओं तथा दूसरे व्यक्तियों के साथ उनके संबंध की गहनता का ठीक पता चलता है । यों ये डायरियाँ कथा-सूत्र की कड़ियाँ बन गयी हैं ।

श्यामा की मृत्यु के बाद उस पर आभा एक कहानी लिखती है । इस कहानी के माध्यम से माचवे ने नारी संबंधी तथा आत्महत्या

और जीवन संबंधी अपने विचारों को अभिव्यक्त किया है । तेईसवें अध्याय में श्री के नाम आभा का पत्र जोडा गया है । उस पत्र के द्वारा पाठक को पता चलता है कि आभा कई दिनों से क्षयरोग से पीडित होकर सैनटोरियम् में पडी है । इस प्रकार यह भी कथासूत्र को गतिशील रहने में सहायक बन जाता है । उपन्यास के अंत में जो तमिल स्तोत्रगीत दिया गया है, वह अन्य भारतीय भाषाओं के साथ माचवे के संबंध का प्रमाण है । साथ ही साथ आभा के जीवन के अंतिम पहर के बारे में माचवे के अपने विचार भी अभिव्यक्त हुए हैं ।

यहाँ यह बात स्पष्ट हो जाती है कि विभिन्न साहित्यिक विधाओं के प्रयोग से माचवे ने अपने उपन्यास को बहुत सफल बनाया है । नये-नये टेकनीकों के प्रयोग के बारे में डा. रणवीर रांग्रा ने एक दफा उनसे यों प्रश्न किया था -"नये-नये टेकनीकों के प्रयोग केलिए आपके उपन्यास बेजोड़ हैं । पर टेकनीक की बारीकियों में खोकर कई बार कथानक इतना बिखर जाता है कि उसके सूत्रों को ढूँढता-ढूँढता पाठक उपन्यास के गोरख - धन्धे में फँसकर छटपटाने लगता है । उसकी इस छटपटाहट में आपको क्या रस मिलता है ?"[1] इसके उत्तर में माचवे ने कहा है -"मैं उपन्यास में कथानक को प्रधान नहीं मानता । बल्कि- कथानक प्रधानता में ही रस लेनेवाले पाठकों को मैं पर्याप्त "आधुनिकता-बोध वाला पाठक ही नहीं मानता । हाँ, टेकनीक के प्रयोग मैं ने किये हैं और मुझे उनके कारण कोई "अपोलौजी" देने की ज़रूरत नहीं जान पडती । प्रयोग असफल हो सकते हैं,

---

1. डा. रणवीर रांग्रा, सृजन की मनोभूमि, {"परंतु" से "जो" तक}, पृ. 170.

पर इस कारण से प्रयोग करने का साहस ही न किया जाए - यह मैं नहीं मानता ।. पाठक यदि मेरी कृति को पढने में कुछ "छटपटाए" भी तो मुझे उसका बुरा नहीं लगेगा । आखिर छटपटाहट सिर्फ इकतर्फा - लेखक की ओर से ही क्यों हो ?"[1]

इस प्रकार टेकनीकों के प्रयोग के दृष्टि से माचवे का दाभा, उपन्यास जगत् में अपना स्थान अलग रखता है ।

आदर्शवाद के खोखलापन का उभार -"एक तारा"

"एक तारा" में तारा की कहानी है । उसने बडे-बडे आदर्शों को अपनाया था । इसलिए घर छोडकर देश सेवा केलिए निकल पडी थी । लेकिन अंत में वह पराजित हो जाती है । आदर्शवाद के धरातल पर जिन-जिन लोगों के साथ उसका संबंध रहा था, वे सब आदर्शवाद को दृष्टि से नकाम लगने लगते हैं । उनका आदर्शवाद के प्रति एक प्रकार का नकारात्मक दृष्टिकोण है । व्यक्ति की अपने अहम् को बचाये रखने की इच्छा तो सहज बात है । यही जयन्त और सुरेश के संबंध में सही निकलता है । उनकी राष्ट्रीयता अहं-प्रसूत है । अर्थात् उनकी राष्ट्रीयता मतलबी है । यही कारण है कि वासना के सामने उन दोनों का आदर्श हार मानता है ।

तारा इन झूठे आदर्शवादियों के चंगुल में पडकर पारिवारिक

---

1. डा. रणवीर रांग्रा, सृजन की मनोभूमि, पृ. 170.

संबंधों को ठुकरा देती है । आखिर वह अनाथ-सी हो जाती है । "राष्ट्र सेवा" के संदर्भ में पकडी जाने पर भी उसे बचाने केलिए कोई आदर्शवादी तैयार नहीं होता है । स्वतंत्रता संग्राम के दरमियान जो अगस्त क्रांति हुई उसी घटना से उपन्यास की शुरूआत होती है । तारा जेल में बंद हो गई थी और फिर मुक्त होकर स्वतंत्र भारत की ज़मीन पर पैर रखती है । तब तक सभी क्रान्तिकारी उसे भूल चुके थे । जयन्त एक बडा नेता बन गया है । आदर्शों को छोडकर तारा एक थियेटर कार्यकर्ता के साथ विवाह कर लेती है । कथानक के इस मोड पर हम यह भी देखते हैं कि तारा भी आदर्शवाद और राष्ट्रीयता को गलत इस्तेमाल करने लगती है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि आदर्शवाद जवानी के जोश से उत्पन्न है । यह तब पैदा होता है, जब युवा रक्त अन्याय के विरुद्ध खौल उठता है । व्यक्ति के प्रौढ होते ही उसके मन में आदर्शवाद का अंत भी हो जाता है । तारा के सबंध में यह सच है । वह पति से विरक्त और परित्यक्त होकर अपने यौवन के आदर्शवाद का परिणाम अकेली भोगने लगती है ।

उपन्यास के पात्रों को माचवे ने समय के अनुसार चुन लिया है । अगस्त क्रान्ति के समय देश सेवा में लगे व्यक्ति दो प्रकार के थे - एक तो गांधीजी के अहिंसावाद को माननेवाले, दूसरे क्रांतिकारी । जैसे पात्रों के द्वारा ही कहा गया है, उस समय के क्रांतिकारी बडे आदर्शवादी माने जाते थे । लेकिन स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद अनेक क्रांतिकारी नेता स्वार्थवादी हो गये । ऐसे लोगों पर व्यंग्य करना ही माचवे का लक्ष्य है । इस लक्ष्य केलिए उन्होंने सुरेश और जयंत को प्रस्तुत किया है । समसामयिक राजनीति और सामाजिक वातावरण को इन पात्रों के माध्यम से माचवे ने

अच्छी तरह स्पष्ट किया है । इस उपन्यास में भी माचवे ने मनोविज्ञान का सहारा लिया है । तारा के चरित्र के विकास में यह काफी सहायक रहा है । लेकिन जयन्त के चरित्र का विकास उक्त नेताओं के जीवन के आधार पर किया गया है, जो स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व बडी क्रांतिकारी और आदर्शवादी रहे और स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सत्तासीन होकर अपने स्वार्थ की रक्षा में कार्यरत रहे ।

तारा की पात्र-सृष्टि माचवे ने काफी सूक्ष्मता से की है । जैसे सूचित किया, इस केलिए उन्होंने मनोविज्ञान का सहारा भी लिया है । घर छोडकर जाना तारा केलिए न्यायसंगत है । उसकी अपनी मां जिन्दा नहीं है । विमाता के उपदेशानुसार पिताजी चलते हैं । विमाता तो तारा को बिलकुल पसंद नहीं करती है । इन कारणों से तारा अपने घर पर रहना नहीं चाहती है । ऐसी अवस्था में उसके सामने एक दरवाज़ा खुल गया, जो हमेशा उसका स्वागत करने केलिए तैयार रहा था । यह एक अच्छा मौका समझकर ही वह अपने घर से निकलती है । यहाँ दो बातें उल्लेखनीय हैं - एक तो तारा अपने घर की अवस्था से पढती नहीं थी, दूसरी बात है कि उसके स्वतंत्र व्यवहार केलिए क्रांतिकारियों के साथ जीवन में काफी अवसरों की संभावना थी । इसलिए तारा तुरन्त बाहर निकलती है । लेकिन माचवे ने उसका जीवन इतना आसान नहीं बनाया । आदर्शवाद के नाम पर वह बाहर निकली थी, लेकिन आदर्शवादियों के द्वारा ही उसे बार-बार ठेस मिलती रही । जयन्त के बारे में उसका विचार है कि "दुनिया के सब पुरुष धोखा दे दें पर जयंत वैसा नहीं है । वह गंभीर, उदार, विवेकवान्, सहानुभूतिपूर्ण, उसके प्रति पवित्र स्नेह रखनेवाला आदर्शवादी है ।"[1] उसी

---

1. प्रभाकर माचवे, एक तारा, पृ. 29.

जयंत से उसे बुरे आचरणों और ज़्यादतियों का अनुभव होता है । सुख और सुविधाओं के बीच में जन्मी और पली तारा जीवन के कठोर यथार्थों का सामना करते ही अपने आदर्शों को ठुकरा देती है । फिर भी उसकी जीत नहीं होती । माधवे ने तारा को पराजित कर दिया है । जिस पुरुष से तारा ने विवाह किया, वह एक दूसरी स्त्री के जाल में फँस जाता है ।

इस उपन्यास में मात्र तारा के चरित्र का पूर्ण विकास हुआ है । अन्य सभी पात्र इस पात्र की पृष्ठभूमि की भूमिका निभाते हैं । साथ ही साथ उनके माध्यम से समाज की यथार्थ स्थिति और समस्याओं को भी उभारा गया है ।

माधवे ने तारा की नियति के निर्माण केलिए "संयोग" से काफी लाभ उठाया है । गवैया क्षेमेन्द्र के साथ तारा का मिलन मात्र संयोग की बात है । रेडियो पर गाने केलिए क्षेमेन्द्र अपने दोस्त के यहाँ आया था । उसी घर में क्रांतिकारी बसते थे । तारा वहाँ अकेली पडी थी । वहीं क्षेमेन्द्र की मुलाकात तारा के साथ होती है । इसी प्रकार जब जेल छुटकर बाहर आती है तब वह रात काटने केलिए थिएटर जाती है । नाटक में क्षेमेन्द्र पुरूरवा की पार्ट निभा रहा था । यहाँ भी संयोगवश ही क्षेमेन्द्र से उसकी मुलाकात होती है । यों दो घटनाएँ चाहे तत्काल अप्रमुख ही लगे, लेकिन कथानक को गतिशीलता देती हैं । अन्यथा तारा की नियति कुछ और हो जाती ।

डा.प्रभाकर माचवे हमेशा अपने उपन्यासों के शीर्षक काफी ध्यानपूर्वक रखते हैं । "एक तारा" शीर्षक उपन्यास की प्रमुख पात्र तारा के जीवन के आधार पर रखा गया है । तारा के माध्यम से नारी के दिशाहीन जीवन की टूटन अभिव्यक्त की गयी है ।[1] "नारी एक तारा है जिसका तार टूट जाने पर काठ बचा रहता है ।"[2]

"एक तारा" उपन्यास के प्रथम पृष्ठ पर एक नक्षत्र तथा एक अकेली, विह्वल दीखनेवाली लडकी का चित्र अंकित किया गया है । तारा अंधेरे में उज्ज्वलता से चमकता है और दिन होते होते मंद होता जाता है । उसी प्रकार उपन्यास की नायिका तारा पहले आदर्शवाद से प्रज्जवलित तारा रही थी लेकिन जीवन के यथार्थ से मुलाकात होते होते फीकी पड जाती है । जीवन के प्रथम प्रहर में अकेलापन को तारा खुद स्वीकार करती है लेकिन अंतिम प्रहर में मज़बूरन स्वीकार करना पडता है ।

मानवता की अभिशाप - "सांचा"

सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य यंत्र का गुलाम भी बन गया है । यंत्रों से मनुष्य जो लाभ और सुख-सुविधाएँ चाहता था, उस केलिए वह लगातार यंत्र की सेवा करने लगा । यंत्रों के कारण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र की रफ्तार बढ गयी है । उसके साथ गतिशील रहने केलिए

---

1. डा.विजय वधवा, स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य के संवर्द्धन में महाराष्ट्र की भूमिका, पृ.159.
2. प्रभाकर माचवे, एक तारा, पृ.28.

मनुष्य को काफी प्रयास करना पडता है । यांत्रिकता की व्यापकता ने मनुष्य को किस प्रकार गुलाम बना रखा है, इसका अनुमान माचवे के इन शब्दों से स्पष्ट हो जाता है -"आज की समाज-व्यवस्था में राज्य, शासन, यंत्र ने धर्म संस्था का स्थान ले लिया है, और विधिनिषेधों की घोर जकडन में वह व्यक्ति नाम के स्वतंत्र अंकुर को रौंद देना, उसका गला घोंटना, कलिकावस्था में ही "नोच" लेना चाहता है ।"[1] माचवे के कथन का मतलब है कि यंत्रों के आविष्कारों ने व्यक्ति के व्यक्तित्व को कुचल दिया है । व्यक्ति की अनंत संभावनाएँ हैं । उन्हें यंत्र सीमित कर देता है ।

मनोहर एक ग्रामीण युवक है । वह शहर के आधुनिक जीवन से आकर्षित हो जाता है । मनोहर ने एम.ए. किया है । फिर भी एक मज़दूर संघ की आजीवन सेवा का व्रत लेता है । लेकिन मज़दूर संघ में भी उसे मनुष्य सहज भावुकता से युक्त किसी से साक्षात्कार नहीं होता । बल्कि यंत्रों को साँचे में ढली मनुष्य की आकृतियाँ ही मिलीं । शरण, मुरारी, फादर डिक्सन और उसकी पुत्री, श्रीमान जी, केशो, मांगीराम आदि सभी किसी-न-किसी प्रकार का ढाँचे हैं । वे सब एक यंत्र-दुनिया के पुरक हैं । बीच-बीच में यंत्रों का खराब हो जाना स्वाभाविक है । नाकाम यंत्रों को निकालकर समय-समय पर दूसरे को लगाये जाते हैं । मनुष्य रूपी यंत्रों में भी इस प्रकार का परिवर्तन हम देख सकते हैं । मनुष्य कालांतर में "मिस-फिट" हो जाता है, और तुरन्त उसे निकाला जाता है । केशो, मनोहर आदि के साथ यही होता है । समाज जब कुलमिलाकर एक यंत्र सा बन जाता है, तब उसका इन्धन बहुमत का होता है । इस बहुमत से जो सहमत नहीं है, वह यंत्र केलिए खतरनाक तत्व साबित हो जाता है ।

---

1. प्रभाकर माचवे, सांचा पीठिका {भूमिका}

यंत्र युग में उसका सर्वनाश निश्चित है । यंत्रों के बिकराल हाथों में घुटती, पिसती मानवता अपनी अस्मिता खोकर मूल्यहीन हो जाती है । मानवता की कोमल भावनाएँ यंत्रों के सामने कोई काम की वस्तु नहीं है । बुद्धिजीवी मनोहर की मानवता को जागृत करने के सारे प्रयास इसीलिए असफल हो जाते हैं । बहुमत-चालित यंत्रों केलिए वह अवाँछित तत्व बन जाता है । यानी यंत्र, समाज और दल के सांचों केलिए वह अवांछित हो गया । इसकी वजह उसकी मृत्यु बहुत कठोर हो जाती है ।

विकास पथ को प्रशस्त करने के लक्ष्य से माचवे हमेशा नये-नये प्रयोगों के इच्छुक रहे हैं । यह इच्छा वास्तव में प्रगति का एक अनिवार्य परिणाम है । कहने का मतलब यह है कि किसी भी क्षेत्र में यांत्रिकता का आविर्भाव माचवे केलिए अधम्य बात है । अपने उपन्यास की रचना में भी उन्होंने यही नीति अपनायी है । डा. रणवीर रांग्रा का मत है कि "लेखक को सांचे से इतनी चिढ़ है कि अपनी कृति को भी उसने उपन्यास के सांचे में नहीं ढलने दिया और वह पत्र, डायरी, संस्मरण, विविध प्रसंगों आदि में बिखरती रही ।"[1] इसलिए "सांचा": पीठिका की भूमिका में कहते हैं - "मैं जानता हूँ आपको यह पसंद न आएगी । इसमें जासूसी उपन्यासों जैसा घटनाक्रम नहीं, कोई दुर्देष उन्मत्त क्रांतिकारी अपमानव चरित्र नहीं, मनोविश्लेषण के नाम पर सेक्स की चारानी की अनुमान नहीं, और न प्रगतिवादी यथार्थवाद का बीभत्स, "मार्बिड" कटे हुए मांस के लोथड़े-छीछड़े और बहते खून और पीब का पैशाचिक वर्णन नहीं - फिर भी यह जैसे लिखा गया, आपके सामने हैं ।"[2] इन शब्दों से पाठक को यह गलत फहमी हो

---

1. डा. रणवीर रांग्रा, समकालीन हिन्दी उपन्यास की भूमिका, पृ. 42.
2. प्रभाकर माचवे, सांचा पीठिका {भूमिका}

सकती है कि माचवे अपने किसी गलती को स्वीकार कर रहे हैं । लेकिन उन्हें मज़बूरन ऐसा करना पडा है, क्योंकि उनके लिए साहित्य अपने विचारों की अभिव्यक्ति का साधन है ।

"सांचा" उपन्यास के 17 अध्याय हैं । उनमें से तीन संपूर्ण अध्याय विभिन्न चिट्ठियाँ हैं । {अध्याय -6, 15 और 16} । अध्याय 14 का अधिकांश भाग भी चिट्टी है । ग्यारहवाँ अध्याय दुष्यंत और शकुंतला के आधुनिक संस्करण को प्रस्तुत करनेवाला एक व्यंग्यात्मक एकांकी है । तेरहवें अध्याय का अधिकांश भाग डायरी के अंश हैं । उपनिषद {पृष्ठ.47}, अथर्ववेद {पृष्ठ-125}, आदि के उद्धरण भी उपन्यास में आ गए हैं । इनके अलावा दो गज़लें {पृष्ठ 112, 117} तथा एक गीत भी इस उपन्यास में शामिल किए गए हैं ।

उपन्यास में समाहित चिट्ठियाँ या तो लिज़ा की ओर से मनोहर को या मनोहर की ओर से लिज़ा को लिखी गयी हैं । लिज़ा के प्रति मनोहर की चिट्ठियों से पता चलता है कि मनोहर शहर के यांत्रिक जीवन में ढले जा रहा हैं । अपने आदर्शों से बिलग होने की मनोहर की छटपटाहट भी इन चिट्ठियों में झलकती है ।

एकांकी, डायरी के अंश, गज़लें, गीत इत्यादि भी विचारों की अभिव्यक्ति के अच्छे साधन रहे हैं । लेकिन जिस ढंग से उन्हें उपन्यास में जोडा गया है वह अनमेल-सा लगता है ।

उपन्यास के अंतिम पृष्ठ में दी गयी कविता उपन्यास के उपसंहार रूप में उपयुक्त है । कविता के कुछ अंश इस प्रकार है -

"ज़िन्दगी एक जुआ है
खेलनेवाले खुद पाँसे हैं
खुद ही गोटियाँ हैं
अति-खाए उपासे हैं
दाढ़ियाँ हैं चोटियाँ हैं....."[1]

प्रयोग का एक नया आयाम "द्युत"

प्रागैतिहासिक काल से लेकर मनुष्य अपनी सुख-सुविधाओं को बढाने के प्रयास में लगा है । इसी प्रयास के दौरान उसकी मानविकता घटती जा रही है, साथ ही साथ उसके मन में यांत्रिकता बढती जा रही है । इस तथ्य को प्राचीन और आधुनिक प्रतिमानों के माध्यम से माचवे ने "द्युत" में प्रस्तुत किया है ।

"द्युत" में अध्यायों का विभाजन एकदम नये ढंग से किया गया है । इन अध्यायों के नामकरण इस प्रकार है - पानी, आग, हवा, धरती, आसमान, शून्य और 1984 (जार्ज ऑर्वेल की स्मृति में) । प्रत्येक अध्याय के पूर्व द्युत से संबंधित कोई न कोई पौराणिक या आधुनिक संदर्भ उभारा गया है । ऋग्वेद, महाभारत आदि से भी उद्धरण लिया गया है । उनका

---

1. प्रभाकर माचवे, सांचा (अंतिम पृष्ठ)

लक्ष्य यह दिखाना है कि द्यूत मनुष्य की एक आदिम प्रवृत्ति है । ऋग्वेद के समय से लेकर मनुष्य पांसा खेलते आ रहा है । इसमें कौन जीता है कौन हार जाता है, इसका कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता । अर्थात् जीत और हार भी अपने में एक द्यूत है ।

"द्यूत" के दो प्रमुख पात्र है - द्रौपदी और धर्मराज । ये दोनों पात्र भिन्न-भिन्न आदर्शों पर अडिग रहते हैं । द्रौपदी वामपंथी है और धर्मराज गांधीवादी । यहाँ एक बात विशेष उल्लेखनीय है कि इन पात्रों का नामकरण पुराणों के पात्र हैं । द्रौपदी अपने को वस्त्रहीन कराने के संदर्भ में जैसे पुरुषों के पुरुषत्व पर प्रश्न उठाती है, उसी प्रकार "द्यूत" की नायिका द्रौपदी भी पुरुषार्थ की चुनौती के रूप में आती है । वह विवाह करना नहीं चाहती, और यदि करना पड़े तो पुरुष उसकी सुरक्षा का एक साधन मात्र रहेगा यही उसकी चुनौती है । पौराणिक पात्र द्रौपदी के पाँच पति थे तो आधुनिका द्रौपदी भी पाँच-पाँच पतियों को स्वीकार करने केलिए भी तैयार है । यह भी पुरुष के पुरुषार्थ के सामने एक चुनौती है ।

पुराण के धर्मराज, युधिष्ठिर है । युधिष्ठिर शांत प्रकृति का व्यक्ति था । गांधीवादी धर्मराज भी उसी प्रकार शांत प्रकृति का है । गांधीवाद के सिद्धांत के अनुसार वह संयम के बर्ताव के पक्षपाती है । वह अहिंसा के सिद्धांत के अनुसार जीवन बिताना चाहता है ।

द्रौपदी और धर्मराज बाढ से बुरी तरह प्रभावित गाँव में राहत कार्य में लग जाते हैं । गाँव में उन्हें जुआरी और शराब बेचनेवाले दादा मिल जाते हैं । दादा आधुनिक साधारण जुआरी का एक प्रतिनिधि है ।

"द्यूत" उपन्यास के प्रत्येक पात्र किसी-न-किसी प्रकार एक व्यापक द्यूत का शिकार बन जाता है । उनका जीवन ही एक द्यूत है । सभी लोग पांसा फेंकते हैं । इस उपन्यास के संदर्भ में हम कह सकते हैं कि वे सब हार जाते हैं । यह इसलिए कहा गया है कि मनुष्यता की मात्रा इन पात्रों में घटती जाती है । साधारण गाँव के इस्पात नगर बनते ही इन पात्रों के कोमल हृदय भी इस्पाती हो जाते हैं ।

दादा की रखैल कलिया एक नीच जाति की नाचनेवाली है । उसकी माँ देवदासी थी । कलिया सेठ और उसके युवा पुत्र की भी भोग्या बनती है । कला पारखी सेठ पुत्र कलिया के लोक-नृत्यों की फिल्में बनाकर उसका प्रचार करना चाहता है । इस लक्ष्य से जो कार्य उसने किया, उसे अधूरा छोडकर वह अमरीका चला जाता है । वह अपने पिता की सट्टे की कमायी से नफरत करता है । अमरीका में उसने देखा संपूर्ण देश द्यूत के खेल का एक मैदान है । लेकिन अमरीका में उसके जीवनरूपी द्यूत में वह हार जाता है ।

कलिया का जीवन दादा से जुडा हुआ था । दादा की गिरफ्तारी के बाद वह अकेली बीमार पडी रहती थी । द्रौपदी और

धर्मराज इसी अवसर पर उससे मिलते हैं । वह द्रौपदी के साथ नारियों के सुधार कार्य में भाग लेती है ।

उस गाँव के जीवन में एक अनपढ ज्योतिषी, एक वैद्यजी और भूखमरी जनता सहभागी हैं । इनको सुधारने के कार्य में द्रौपदी और धर्मराज के साथ सरकार भी भाग लेती हैं ।

गाँव में लौह अयस्क की खाने खोदे जाने के साथ गाँव की नियति ही बदल जाती है । तुरन्त वहाँ इस्पात नगर की स्थापना हो जाती है । वहाँ के सभी व्यक्तियों के जीवन के प्रत्येक पहलू इस्पात से प्रभावित हो जाता है । भाषा, धर्म, संगीत, कला, साहित्य आदि सब कुछ इस्पातमय हो जाते हैं । अपनी पुरानी पीढी को संस्कृति और जीवन को इस्पात नगर के निवासी घृणा से देखते हैं । संपूर्ण शहरीकरण और संपूर्ण यंत्रीकरण के साथ मनुष्य की भावनाएँ किस प्रकार पत्थराई जाती है, उसका उत्तम उदाहरण है - "द्युत" उपन्यास । मनुष्य के मन में कोमलता और आर्द्रता के स्थान पर एक कठोर अवसन्नता और निष्क्रियता छा जाती है ।

मनुष्य का जीवन एक जुआ है । अनादिकाल से लेकर मनुष्य जुआ खेलते आ रहा है । मनुष्य के प्रत्येक क्षेत्र में इसकी भूमिका है । किसी लक्ष्य केलिए मनुष्य द्युत में सहभागी होता है । वह जीत में संतोष और

हार में निराशा का अनुभव करता है । इस खेल में मनुष्यता का भाव और स्वार्थता का प्रभाव निसंदेह स्पष्ट हो जाते हैं ।

इस होडा-होडी, भग-दौड आदि के बाद मनुष्य कहाँ पहुँच जाता है, इसका स्पष्ट अनुमान माचवे लगा देते है । यह अनुमान उपन्यास के विभिन्न अध्यायों के नामकरण से स्पष्ट हो जाता है । "पानी" "आग", "हवा", "धरती", "आसमान", आदि पंच भूतों से गुज़र कर मनुष्य "शून्य" में विलयित हो जाता है । इससे पता चलता है कि जीवन में अपनी स्वार्थता केलिए मनुष्य जो भी प्रयास करता है, वह कितना निरर्थक है ।

वर्णभेद पर संयक् चिन्तन की अभिव्यक्ति "जो"

खुद माचवेजी बताते हैं - "जो"के संदर्भ में यह स्पष्ट है कि इसका कथ्य यथार्थ पर आधारित है ।[1] यह उपन्यास विभिन्न देशों में प्रचलित जाति-स्पर्धा का विश्लेषण करता है । इसकी प्रेरणा उन्हें भारत के विभिन्न स्थानों में प्रचलित जाति भेद से मिली है । वे स्वयं कहते हैं - "मेरा उद्देश्य इस कहानी के लिखने में कुछ छुपा हुआ था मेरे मन को भारत की जाति भेद की समस्या सन् 1940 से ही, जब मैं सेवाग्राम में कई मास रहा, मथ रही थी । विदेश में जाकर यह समस्या और भी तीव्र रूप से मुझे कचोटने लगी ।.... इसी व्यथा में - से यह कहानी निकली है ।"[2]

---

1. {इस उपन्यास के प्रायः सभी प्रसंग ऐसे है, जो यथार्थ जीवन से मैं ने लिया है } माचवे, जो {भूमिका}, पृ. 7.
2. प्रभाकर माचवे, जो {भूमिका}, पृ. 6.

संगीतज्ञ नीग्रो, "जो", इस उपन्यास में प्रमुख पात्र के रूप में आता है । नीग्रो होने के नाते उसे गोरों से जो कठोर व्यवहार का सामना करना पडा है, उसका संवेदनात्मक चित्रण इस उपन्यास में उपलब्ध है । यह मात्र जो का नहीं, लेकिन अमरीका में बसे करोडों नीग्रो लोगों की समस्या है । जो के माध्यम से माचवे ने वर्णभेद की गंभीर समस्या का ही विश्लेषण किया है । मनुष्य की स्पर्धायें अनेक कारणों से होती है । माचवे कहते हैं -"कितनी छोटी-छोटी बातों पर हमारे यहाँ लोग लडते हैं भाषा, प्रदेश-नाम, चन्दन सीधा लगायें या टेढा, कच्छा लगाकर साडी पहनें या न पहनें जनेऊ पहनते हुए गायका गोबर, मूत्र, दूध, दही सब पंचगव्य चाटें या न चाटें ; चोटी कितनी लम्बी रखें - क्या मूर्खता है, जहालत है । हम अब भी साँप-बिच्छू पूजनेवाले आदिवासी हैं क्यों ?"[1] इन शब्दों से परोक्ष रूप से वे कहना चाहते हैं कि मनुष्य प्रगति करते-करते मानसिक संस्कार की दृष्टि से पीछे हटते गए है । उनकी दृष्टि में वर्णभेद का असली कारण उक्त कोई भी कारण नहीं है । वे लिखते हैं -"मनुष्य मात्र के भीतर कहीं एक आदिवासी छिपा है । सवाल यही है कि उस जंगली, अन-पालतू, पशु का क्या हो ?"[2] वे इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं -"सारी सभ्यता का इतिहास मनुष्य के आदि पशु को बुलाने का यत्न है ।"[3]

इस प्रकार से वर्णभेद से पीडित जो अपने संगीत के माध्यम से अपना दर्द मिटाता है । उसका संगीत अपने वर्ग के दर्द का उभार है । उसका संगीत उसी की सामूहिक चीख है । वह जिन शब्दों का प्रयोग करता है, उसमें उनका संपूर्ण दर्द निहित है । सचमुच जो पीडित नीग्रो वर्ग का

---

1. प्रभाकर माचवे, जो, पृ. 34.
2. वही
3. वही, पृ. 56.

प्रतिनिधि है । उसके चरित्र निर्माण में माचवे ने सूक्ष्म ध्यान दिया है । उसके जीवन परिवेश को अत्यंत संवेदना के साथ माचवे ने प्रस्तुत किया है । ऐसे दूसरे चरित्र का सृजन भी उन्होंने नहीं किया है ।

उपन्यास का प्रारंभ एक होटल में जो की संगीत सभा के साथ होता है । कथावाचक वेंकटरामन का संगीत का शौक जो से उसके मिलने का पर्याप्त कारण है । इन दोनों पात्रों के संबंधों के माध्यम से सारी समस्याओं को माचवे अभिव्यक्त कर देते हैं । कभी गीत के माध्यम से, कभी कविता के माध्यम से, कभी पात्रों के संवाद के माध्यम से और एक जगह अपने मित्र मुरुगन से मिले पत्र के माध्यम से माचवे यह कार्य आसानी से कर सके हैं । इस कार्य में जो, वेंकट रामन आदि पात्र मुख्य भूमिका निभाते हैं । उनके साथ-साथ मार्था, डोरा, बेसी, योगी लक्ष्मण आदि पात्र भी माचवे के हाथों में वैचारिक अभिव्यक्ति के उपयुक्त साधन बन गये हैं ।

अनेक कहानियों की एक कहानी "तीस-चालीस-पचास"

लेखक की भूमिका से "तीस-चालीस-पचास" के संयमित शिल्प परिचय मिल जाता है । उपन्यास दो खण्डों में विभाजित है - प्रथम खण्ड का शीर्षक "काल" है, जिसके अंतर्गत छः अध्याय आ गये हैं । इसमें "तीन पीढ़ियों के तीन-तीन स्त्री-पुरुष पात्रों की ज़बानी उनकी स्थितियों की परस्पर संपर्क सूत्र, समानता विषमता की कहानी है ।"[1]

---

1. प्रभाकर माचवे, 30-40-50, आरंभ में (भूमिका)

दूसरे खण्ड का शीर्षक है -"दिक्" । इसके अंतर्गत उपर्युक्त छः पात्र काल के बन्धन तोडकर तीन खंडों में घूमते हैं ।[1] इस प्रकार "यह सारा उपन्यास "काल" और "दिक्" के परिणामों में बंधे मानव आकारों की अपनेपन की खोज है ।"

प्रथम खण्ड के छः अध्याय इसप्रकार हैं - आचार्य वासुदेव, मोहन की कहानी, अनिरुद्ध की कहानी, उषा की कहानी, रुखसाना की कहानी और सरला की कहानी । इन छः व्यक्तियों की अलग-अलग कहानियाँ "काल" और "दिक्" खण्डों से गुज़र कर एक मूल कथा में विलीन हो जाती है। यह कथ्य की अभिव्यक्ति की दृष्टि से एक नवीन प्रयोग कहा जा सकता है । आचार्य वासुदेव और उनकी पत्नी सरला बडे आदर्शवादी थे । वे अपने आदर्शों पर अटल रहना चाहते थे । उनका पुत्र मोहन वैज्ञानिक बन गया । वह रुखसाना नामक एक मुसलमान लडकी के साथ विवाह करता है । उन दोनों का पुत्र अनिरुद्ध क्षणिकवादी भोग प्रधान जीवन में विश्वास रखता है ।

इन तीनों पीढियों की कहानियों के माध्यम से माचवे ने यह स्पष्ट किया है कि पीढी-दर-पीढी से मानवीय मूल्यों का विघटन होता जा रहा है । इसलिए मनुष्य की आस्था का भी एक नकारात्मक परिणाम निकल आया है । सामाजिक और धार्मिक मूल्यों को माननेवाले आचार्य वासुदेव और सरला का पुत्र मोहन इन मूल्यों को ठुकरा देता है । और

---

1. प्रभाकर माचवे, 30-40-50, आरंभ में {भूमिका}

मोहन का पुत्र अपने पिता को भी लांघ जाता है । अनिरुद्ध स्वीडन की युवती उर्सुला के साथ विवाह करता है, जिसका नाम सुविधा केलिए उषा रखा गया है । इन तीनों पीढ़ियों के बीच में जो "जेनरेशन-गैप" है, इसकी वजह से इनमें आपसी संघर्ष पैदा होता है । ये तीन पीढ़ियाँ 1930-1940-1950 की है । दस-दस वर्षों में व्यक्ति की मानसिकता, आचरण, संस्कृति और परिवेश में जो अंतर आ सकता है, उसका सही चित्रण तटस्थता के साथ माचवे ने इस उपन्यास में किया है ।

"तीस-चालीस-पचास" में माचवे जी ने समसामयिक परिवेश से संबंधित अनेक समस्याओं का विश्लेषण किया है । उनका समाधान निकाले बिना उन्हें सुलझाने का काम उन्होंने पाठकों पर छोड दिया है - "कौन बार-बार मनुष्य को पशु बनाता है ? कौन बार-बार उसमें के देवता की याद दिलाता है ? क्या सन्-संवत् आंकडे बेमानी हैं ? "30,40,50" की तरह क्या यह कहानी "60,70, 80" होते - होते शताब्दी के अंत तक पहुँचेगी ? या कहीं न कहीं इस श्रृंखला का अंत होना ही होगा । ये शून्य समाप्त होंगे । और उनमें पूर्ण जागेगा । या फिर अनेक शून्य मिलकर एक बडा वर्तुल बनेगा ।"[1] इसी संदेह में माचवे ने उपन्यास समाप्त किया है । सचमुच यह संदेह नहीं है, बल्कि पाठक के सामने एक चुनौती खडी कर दी गयी है । अर्थात् वे हम से पूछते हैं, क्या यह निरर्थक शून्य में विलीन होना मनुष्य केलिए अनिवार्य है ? और क्या उससे बच निकलने का कोई रास्ता मनुष्य के सामने नहीं है । यह कोई सामान्य चुनौती नहीं है । यह चुनौती हमारे पुरुषार्थ की ओर लक्षित है, मनुष्य की अनंत संभावनाओं की ओर भी ।

---

1. प्रभाकर माचवे, 30-40-50, पृ. 136.

व्यक्ति की अस्मिता की खोज -"लापता"

प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन काल में अपनी अस्मिता की खोज में लगा रहता है । इस सच्चाई की अभिव्यक्ति माचवे ने "लापता" उपन्यास में दी है । यह एक अलग ढंग का उपन्यास है । इसमें एक ही व्यक्ति विभिन्न नाम और रूप में हमारे सामने आता है ।

अरविंद मल्होत्रा दिल्ली का है । वह घर से भागकर केरल के समुद्र तट पर आ जाता है । केरल में वह देवीप्रसाद नाम स्वीकार करता है । पीटर नामक एक वृद्ध उसे अपने घर ले जाता है । उसकी सहायता से उसे चर्च के स्कूल में क्लर्क का काम मिल जाता है । पर वह स्मगलरों के साथ काम करने लगता है । स्मगलरों के बीच उसका नाम "मिस्टर के" है । केरल से वह गोवा जाता है । वहाँ उसका नाम "वालावल्कर" रखा जाता है । स्मगलिंग की वजह से वह करोडपति बन जाता है और उषा से विवाह करता है । विवाह के बाद उषा को साथ लेकर अमरीका चला जाता है । पर उषा को वहाँ छोडकर वापस लौटता है । फिर बंबई में एक मनोवैज्ञानिक डाक्टर का रूप धारण करता है और अपना नाम "डाक्टर सदानंद" रखता है । इस बीच उषा अमरिका से वापस लौटती है । यह जानकर डॉ. सदानंद उडीसा भाग जाता है । वहाँ वह महादेव शर्मा नाम स्वीकार करता है । जब स्मगलर एच. आर. के लोग उसकी तलाश करने लगते हैं तब वह कलकत्ता चला जाता है । कलकत्ते में उसका नाम अशुतोष है । वह महात्मा दुर्गादास की शिष्या जयादेवी के आश्रम में पटेल के नाम से रहता है । वहाँ प्रकाशन विभाग में वह काम करने लगता है और अनीता से उसका परिचय हो जाता है ।

उसकी असली पहचान स्पष्ट हो जाने के भय से वह वहाँ से भी भाग जाता है । वह शिंला में शिवलाल नाम स्वीकार करता है और मास्टर बनकर एक स्कूल में पढाने लगता है । एक बार अनीता वहाँ पहुँच जाती है, और शिवलाल को पहचानती है । आखिर वह अनीता का उपदेश स्वीकार करके घर वापस लौटता है ।

अरविंद मल्होत्रा अपनी विमाता के अत्याचार के कारण अपने घर से भाग जाता है । विमाता से बदला लेने की चिंता से वह संत्रस्त रहता है । उस केलिए वह किसी भी प्रकार धन कमाना चाहता है । धन कमाने का मार्ग कुछ भी हो, इसके बारे में वह सोचता तक नहीं । किसी भी प्रकार धन कमाकर अपनी पहचान घरवालों के सामने सिद्ध करना उसका लक्ष्य है । इसी केलिए वह लापता हो जाता है । लेकिन आखिर वह खुद महसूसता है - "मैं सब जगह भटका हूँ । लापता, बेठिकाना जहाज़ की तरह घाट-घाट गया हूँ । पर मेरा बंदरगाह वहाँ नहीं है । न कोच्चीन में, न पणजी में । मैं समझ गया हूँ कि मेरी नौका डांड-हीन और पाहौल हीन है । वह राह में ही टूट जायेगी ।"[1] अपनी खोई हुई पहचान को फिर से बनाने में वह नाकाबिल हो जाता है ।

एक ही व्यक्ति के व्यक्तित्व के अनेक पहलू होते हैं । ये सभी पहलू उस व्यक्तित्व के अभिन्न अंग है । इसलिए व्यक्ति परिस्थिति

---

1. प्रभाकर माचवे, लापता, पृ. 128.

के अनुसार अपना चेहरा बदल देता है । यह प्रक्रिया जाने-अनजाने सभी व्यक्तियों में होती है । "लापता" उपन्यास में इसी सच्चाई को माचवे ने कथ्य का मूल बनाया है । वे कहते हैं - "एक ही व्यक्ति में कितने व्यक्ति छिपे रहते हैं ?"[1] व्यक्ति के अंतर छिपे विभिन्न व्यक्तियों को, अरविंद मल्होत्रा के विभिन्न नाम और रूप में प्रस्तुत होने के कथ्य के माध्यम से माचवे ने स्पष्ट कर दिया है । व्यक्ति-व्यक्ति के अंतर छिपे उसके विभिन्न चेहरों को दयालु, प्रेमी, क्रोधी, आदि को - अरविंद मल्होत्रा के विभिन्न नामों के माध्यम से माचवे ने प्रस्तुत किया है ।

व्यक्ति के व्यक्तित्व की इस विभिन्नता के पीछे उसके मन में जागृत यह संदेह है कि क्या मेरी पहचान डूब गयी है ? इसके भी मूल में अकेलापन परिवेशगत घुटन, तिरस्कार आदि कई कारण हो सकते हैं । दार्शनिक और तात्विक विवेचनों के माध्यम से माचवे ने यह बात स्पष्ट की है ।

उपन्यास में यत्र तत्र माचवे ने दार्शनिक बातों को पेश किया है । मनुष्य मन की विभिन्न स्थितियों को उन्होंने इस प्रकार विश्लेषित भी किया है । आपका विश्लेषण चुस्त और मार्मिक है । अपनी खोज में निकली व्यक्ति की चिन्ता और संशयग्रस्तता आदि का बारीकी से विवेचन उन्होंने प्रस्तुत किया है । माचवे ने दार्शनिकता के साथ-साथ अपने ज्ञान-भंडार

---

1. प्रभाकर माचवे, लापता, पृ. 15.

को भी खोल दिया है । घुमक्कड़ स्वभाव के माचवे होने के कारण ही अनेक स्थानों और जन समूहों की विशेषताओं को प्रामाणिक ढंग से प्रस्तुत कर सके हैं । अरविंद मल्होत्रा के अनेक रूप जो प्रस्तुत होते हैं, उनमें प्रत्येक रूप के साथ जुड़ी हुई सांस्कृतिक, धार्मिक और स्थानीय विशेषताओं को माचवे ने उपन्यास में विस्तार से कहा है । इससे उपन्यास की प्रामाणिकता स्पष्ट होती हैं । साथ ही साथ उपन्यास में समय का स्पन्दन भी महसूस होता है । अर्थात् उपन्यास में वर्णित घटनाओं के साथ प्रामाणिकता भी जुड़ी हुई हैं ।

पुरुषार्थों का ह्रासोन्मुख परिणाम का चित्रण -"किसलिए"

धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ के तीन मुख्य पहलू हैं । आधुनिक युग में ये ह्रासोन्मुख है । इसलिए मनुष्य की मन:स्थिति खण्डित हो चुकी है । इसप्रकार के नौ मानुषिक इकाइयों की कहानियाँ "किसलिए" का कथ्य है । नौ खण्डित मानसिक स्थितियों का चित्रण "किसलिए" में हुआ है ।

रिपुदमन कौर, बैरामजी नामक एक फिल्म प्रोड्यूसर के साथ बंबई चली जाती है । फिल्मों में एक्स्ट्रा के काम के साथ वह स्मगलिंग भी करती है । लेकिन कुछ समय बाद उसे टाइपिस्ट का काम करना पड़ता है । आखिर शादी न होने के कारण शेष जीवन वह अकेले बिताती है ।

कर्नाटक की वल्लरी का रेडियो पर अनाउन्सर होना, रूढिवादी पिता को अच्छा नहीं लगता । श्री नगर में काम करते समय दो प्रेमी उसके पीछे पडते हैं । इसलिए वह बेचैन हो जाती है । उसका विवाह एक उडिया पत्रकार जगनाथ से होता है । लेकिन उसे छोडकर वह दिल्ली आ जाती है । उसे उच्च पद की नौकरी मिलती है और सरकारी क्वार्टर में वह रहने लगती है । वह पुनः पुरातत्वज्ञ जयरत्न से विवाह कर लेती है । रिपुदमन और वल्लरी के पदों पर अंबा और लूसी आ जाती है । सात्विक स्वभाव के अंबा खादी भंडार में काम करती है । लेकिन वह भक्कार, स्वार्थी समाज सेवक गुरु प्रसाद सिंह के चंगुल में फँस जाती है । उसका जीवन कठोर हो जाता है । बाबूलाल के सहायता से वह अपने पति से मुक्त हो जाती है । शेष जीवन काल में वह बोर्डिंग और स्कूल चलाकर स्वस्थ जीवन बिताती है । लूसी का पति रौडरिग्स शराबी है । वह गोआ की रहने-वाली है । पति से किसी प्रकार मुक्त होकर वह दिल्ली आ जाती है । गितार वादक एंटनी से उसकी गहरी मित्रता हो जाती है । एक बार जब जगमोहन नामक एक पंजाबी अफ्सर लूसी की इज्ज़त लूटने लगा तो एंटनी उसे बचा लेता है । लेकिन एंटनी के साथ झगडा होने के कारण वह गोआ लौट जाती है । विलियम नामक एक ईसाई इंजिनियर से विवाह करके वह अपना शेष जीवन दूसरों की सेवा में बिताती है । कथासूत्र में रीना और सुकुमार की कहानी भी जोडी गयी है । रीना की अनिच्छा के उपरांत भी उसका विवाह लंदनवासी से किया जाता है । पति का असली स्वभाव का पता चलते ही वह दिल्ली लौट आती है । और सुकुमार के साथ दक्षिण भाग जाती है ।

अधर्म, अनर्थ, अकाम, अमोक्ष - ये इस उपन्यास के चार खण्ड हैं । प्रथम तीन खण्डों में धर्म, अर्थ, काम आदि पुरुषार्थों के ह्रास

की प्रवृत्ति का सजीव चित्रण हुआ है । एक ढोंगी साधु के माध्यम से माचवे यह दिखाते हैं कि धर्म का अधर्म में कैसे कायापलट हुआ है । वह साधु साध्वी पोशाक में चलते हैं । और झोली में रुपया, दवाईयाँ, निरोध आदि छिपाकर रखते हैं और गांजा भी पी लेता है । टोटिया, पार्थसारथी, रिपुदमन आदि पात्रों के माध्यम से रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार, काला बाज़ार, आदि समाज में व्याप्त बुराइयों का चित्रण किया गया है । पत्रकार, अध्यापक का लक्ष्य धर्म होना चाहिए । लेकिन आधुनिक समाज में उनका लक्ष्य धन हो गया है । "अकाम" खण्ड में काम-विकृतियों पर भी प्रकाश डाला गया है । "अमोघ" में पात्रों के बीच तर्क-वितर्क द्वारा विभिन्न धर्मों के दर्शनों पर प्रकाश डाला गया है । अंत में उपन्यास के प्रमुख पात्रों के जीवन परिणाम के बारे में भी कहा गया है ।

आधुनिक मनुष्य की खंडित मानसिकता को उभारने में माचवे का यह उपन्यास काफी सफल रहा है । इसके प्रमुख कारण के रूप में माचवे ने हमारे मूल्यों में जो विघटन हुआ है, उसी को प्रस्तुत किया है । उपन्यास के बीच-बीच में प्रश्नोत्तर, तर्क, इन्टरव्यू आदि कथा-सूत्र को बनाये रखने में शायद ही सहायक है । उन्होंने जो दर्शन और धर्म संबंधी विचार प्रस्तुत किये हैं, वे ज्ञान-संवर्धन की दृष्टि से अच्छा है, लेकिन उपन्यास की गतिशीलता में वह बाधा के रूप में प्रतीत होता है ।

माचवे ने इस उपन्यास में कई भाषाओं को मिलाया है - संस्कृत, हिन्दी, बंगला, मराठी, उर्दू आदि भारतीय भाषाओं के साथ

विदेशी भाषाओं से भी उन्होंने उद्धरण प्रस्तुत किया है । समाज के मूल्य विघटन को कुछ पात्रों के माध्यम से प्रस्तुत करना ही माचवे जी का लक्ष्य है । उन पात्रों के जीवन के विभिन्न पहलुओं का चित्रण करके उन में व्याप्त अव्यवस्था, भ्रष्टाचार, विभिन्न समस्याओं को भी जीवन्तता के साथ माचवे ने प्रस्तुत किया है । मूल्यों की ह्रासोन्मुखता के कारण ही प्रत्येक व्यक्ति अपने मन के किसी कोने में इस प्रश्न का हमेशा सामना करता रहता है कि "किसलिए" ?

मानव जीवन की विवशताओं की खोज - "लक्ष्मीबेन"

"लक्ष्मीबेन" उपन्यास पाँच खण्डों में विभाजित है । इन पाँचों खण्डों में नायिका पाँच रूपों में अवतरित होती है - पहले में प्रो. लेखा गुप्ता, दूसरे में समाज सुधारिका लक्ष्मीबेन, तीसरे में राजनीतिक कार्यकर्ती सुलक्षणादेवी, चौथे में अलक्षिता नामक योगिनी और पाँचवाँ में "ल." नामक लेखिका । इन पाँचों रूपों में लेखक ने तद्क्षेत्र संबंधी समस्याओं को जोड भी दिया है ।

पति-परित्यक्ता प्रो. लेखा गुप्ता इतिहास की अध्यापिका है । वह नौकरी करना नहीं चाहती, फिर भी उसे करनी पडती है यह उसकी विवशता है । अपने पति और पुत्र से संबंध टूटने के बाद समय काटने केलिए उसे नौकरी करनी पडती है । यह उसके विचारों से ही जाहिर है -

"अगर वसंत जीवन से न चला जाता - यों भरी-पूरी दावत में स्टकर चले जानेवाले मेहमान की तरह, महफिल में सारे साजों की तैयारी को छोड़कर भाग जानेवाले गायक की तरह,.... तो वह क्यों करती यह नौकरी ?"[1] अत: स्पष्ट है कि नौकरी उसके लिए बोझ है ।

प्रवक्ताओं और प्राध्यापकों की दुनिया स्वार्थ से भर गई है । राजनीति की दुनिया तो संकुचित विचारों की कार्यशाला है । मनुष्य और कीड़े-मकोड़े से भी बदत्तर हो गये हैं । ऐसी दुनिया में रहते-रहते उपन्यास की नायिका ऊब जाती है । इसलिए प्रत्येक क्षेत्र से वह पीछे हट जाती है । फिर भी उसके जीवनक्रम में कोई परिवर्तन नहीं आता है । मनुष्य का आधार भूत संस्कार इतना प्रबल है कि उसे बदलना बहुत मुश्किल है - क्या मनुष्य और संस्कार से भी बढकर कोई शक्ति हैं - आर्थिक संबंधों की, या जिसे "इतिहास का अकाट्य तर्क" कहा जाता है - जो अपरिभाषेय हैं और भूत की तरह मनुष्य की गर्दन पर सवार रहती हैं ?"[2] स्वतंत्रता परवर्ती भारतीय समाज की गिरावट का असली चित्र इस उपन्यास में उपलब्ध है । घर-बाहर किसी भी क्षेत्र में ईमानदार और नेक आदमी का जीना मुश्किल है, क्योंकि सभी क्षेत्र प्रदूषित हो गये हैं । मनुष्य विवशता का शिकार हो गया है । सत्य का मुख विकृत हो गया है । उसका चेहरा असत्य के ढक्कन में अगोचर हो गया है -"आज सत्य ऐसा गुमनाम नहीं रह सकता । उसके ऊपर हज़ार मिथ्या चेहरे हैं । उसके लाख रूप हैं । उसके सैकड़ों नाम हैं । उनमें से उसे पहचान पाना एक पहेली बुझाने की तरह है ।"[3]

---

1. प्रभाकर माचवे, लक्ष्मीबेन, पृ. 13.
2. वही, पृ. 70.
3. वही, पृ. 16.

सत्य को छिपाने में क्षणिक सफलता ही हासिल की जा सकती है । इसीलिए लक्ष्मीबेन किसी भी क्षेत्र में अडिग नहीं रह पाती है । रुकावटों के सामने चंचल होकर वह रास्ता बदल देती है । इस बदलाव के पीछे अपनी आंतरिक सच्चाई को छिपाने तथा एक कृत्रिम मुखौटा पहनने की प्रवृत्ति है । लेकिन सभी जगहों पर आदिम प्रवृत्ति की ओर झुकाव उसे पराजित कर देता है । इस प्रकार वह विवशता की शिकार के रूप में प्रस्तुत की गयी है । संक्षेप में कहा जा सकता है कि "लक्ष्मीबेन" आज़ाद भारत की व्यापक गिरावट के परिवेश में उत्पन्न मनुष्य मन की विवशता की कहानी है

विभाजन की वेदना का उभार -"कहाँ से कहाँ"

"कहाँ से कहाँ" उपन्यास की प्रेरणा माचवे को जर्मनी की बर्लिन दीवार से मिलती है । विभा नामक उपन्यास की मुख्य पात्र बर्लिन की दीवार देखकर हिन्दुस्तान, पाकिस्तान, बंगलादेश आदि के विभाजन की याद में दु:खित होती है । बर्लिन की दीवार मात्र एक प्रेरणा है । वह एक ही देश के दो भागों को विभाजित करती है । इसी प्रकार व्यक्ति संबंधों में भी अनेक दीवारों की उपस्थिति हम देख सकते हैं और इसकी वजह व्यक्ति की मानसिकता भी खण्डित हो जाती है ।

उपन्यास के चार खण्ड हैं - वे हैं "वि", "भा", "जि", "त्" । यह विभाजित शब्द के चार अधार हैं । ये चार अधार कई प्रकार से संकेतित है । विभा और जित् दो पात्र हैं । उनके करीब होने से

विभाजित शब्द बनता है । लेकिन व्यक्तियों के बीच में जो दीवार खड़ी है, यह उसी का संकेत है । इस शब्द को खण्डित करके दो व्यक्तियों के नाम बनाये गये हैं । डा. विजय द्विवेदी के अनुसार नामकरण का संबंध इस प्रकार है- "वि" का संबंध "विभा" अथा विदेशी से, "भा" का "भास्कर" अथवा "भारत" से "जि" का "जितेन्द्र" अथवा "जिल्लत" से और "त" का "तटस्थता" अथवा "तकनीक" से जोड़ सकते हैं ।"[1]

"कहाँ से कहाँ" में कहानी, नाटक, यात्रा वृत्तांत, देश दर्शन, रिपोर्ताज, कविता, लोकगीत आदि कई विधायें सम्मिलित है । बौद्धिकता, दर्शन, तंत्रसाधना, वेदांत, इतिहास, भूगोल, समाज शास्त्र, मनोविज्ञान, सभ्यता, संस्कृति, धर्म, राजनीति आदि का विस्तार में सर्वेक्षण इस उपन्यास में उपलब्ध है । अर्थात् समस्याओं की एक अजस्र धारा इस उपन्यास में मिलती है । लगता है कि माचवे के अन्य उपन्यासों के समान यह उपन्यास भी कहानी की प्रवाहमयता पर ध्यान दिये बिना लिखा गया है । इसके बदले विचारों की अभिव्यक्ति पर ही ज़ोर दिया गया है । इस कारण चरित्र निर्माण भी प्रौढ़ नहीं बन पाया है ।

विभासिंह बंगाली माँ और पंजाबी पिता की एकमात्र संतान है । पिता की मृत्यु के बाद विभा जर्मनी में चिकित्सा शास्त्र में उच्चशिक्षा पाने केलिए चली जाती है । विल् नामक एक जर्मन युवक उससे

---

1. डा. विजय द्विवेदी, प्रकर, अंक 25, मई 1979, ज्येष्ठ 2036.

विवाह का प्रस्ताव रखता है । लेकिन उनके बीच धर्म की दीवार अवरोध बनती है । फिर भास्कर नामक एक कोंकणी युवक उसे अपनाना चाहता है । असफल होने पर भास्कर फ्रेडा नामक एक तलाकशुदा नारी के साथ विवाह करता है । इस उपन्यास का और एक प्रमुख पात्र है नजमा । नजमा को साथ लेकर विभा भारत आ जाती है । भास्कर भी यहाँ आ पहुँचता है । भास्कर नजमा के पीछे पड जाता है, विभा के पीछे जितेन्द्र भी । जितेन्द्र एक आदर्श भारतीय युवक है । इनका विवाह हो जाता है और दोनों परिवार अपने अपने आदर्शों की पटरियों से चलने लगते हैं । अंतिम खण्ड में मुक्त तंत्र साधना का विवरण है ।

माचवे ने इस उपन्यास के पात्रों का विभिन्न आदर्शों, संस्कृतियो और परिवेशों के अनुसार सृजन किया है । गांधी, विनोबा, नेहरू, जयप्रकाश आदि के आदर्शों का साकार रूप है जितेन्द्र । पश्चिमी सभ्यता, संस्कृति, धर्म, दर्शन आदि के पीछे भागनेवाले युवकों का प्रतिनिधि है भास्कर । इन दोनों प्रकार के व्यक्तियों में विभाजन का भय है । पश्चिम में युद्ध की विभीषिका का भय है । पूर्व में देश विभाजन का भय । इस प्रकार विचार संप्रेषण की दृष्टि से इस उपन्यास का शिल्पविधान सफल रहा है ।

नारी की असीम शक्ति की खोज -दशभुजा-

भारत में नारी का जीवन बहुत ही त्रासद है । इसके संबंध में माचवे जी दशभुजा की भूमिका में कहते हैं -"आधी दुनिया रसोईघर,

जच्चा-बच्चा और जर्जर अन्धरूढ़ियों में जकड़ी पड़ी है । स्त्रियों की साक्षरता, स्वतंत्रता के तैंतीस वर्ष बाद और एक दशक से ऊपर, एक महिला प्रधानमंत्री के होते हुए, अभी भी नारी दयनीय और शोचनीय अवस्था में है । यह उपन्यास उसी आक्रोश का एक चित्र है, एक असहाय स्त्री की दृष्टि से ।[1] जिस देश में नारी को देवी मानी जाती है, और जिस देश में पर्याप्त समय तक एक नारी प्रधानमंत्री रही, उस देश में नारी का इस प्रकार उत्पीडन होना विचित्र ही नहीं अत्यंत दु:खद बात भी है ।

अदिति और सोमनाथ चाटर्जी पति-पत्नी है । दोनों मिलकर कलकत्ते में काली देवी के मंदिर में दर्शन केलिए जाते हैं । लेकिन मंदिर में अदिति अकेली प्रवेश करती है । उस समय सोमनाथ जान बूझकर उसे छोडकर चला जाता है । महानगर में अदिति अपने भविष्य के बारे में सोचकर चिन्ताग्रस्त होती तो है पर एक परिचिता महिला का पता याद आते ही वह उसके घर चली जाती है । इस दौरान कलकत्ता महानगर की विडंबनाओं का मार्मिक चित्रण माचवे ने प्रस्तुत किया है । विभिन्न मंदिरों में चलते विभिन्न प्रकार के अत्याचारों को प्रस्तुत करने का अवसर भी माचवे को मिला है ।

अकेलापन की पकड की व्यापकता को सेठ गेंदालाल, नलिनी कांत, देवी ठाकुर आदि के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है । संपत्ति की अट्टालिका के ऊपर राज करनेवाले सेठ गेंदालाल का जीवन अकेलेपन से बोझिल है । अहम् केन्द्रित नलिनी कांत अकर्मण्य बौद्धिक है । वह भी जान

---

1. प्रभाकर माचवे, दशभुजा, पहला पृष्ठ {भूमिका}

बूझकर अपने बौद्धिक होने के दंभ में अकेले रहता है । किसी दूसरे से मिले बिना उसका जीवन भी काफी बोर हो जाता है । देवी ठाकुर अपने अकेलेपन से पलायन करने केलिए किसी-न-किसी काम में व्यापृत हो जाती है ।

एक ही नारी के विभिन्न रूप इस उपन्यास में दर्शनीय है । अदिति ट्यूशन अध्यापिका, टंकण लिपिक, समाजसेविका, अभिनेत्री आदि रूप स्वीकार करती है । सफलता हासिल करने केलिए ये सब एक-एक सोपान बन जाते हैं । आखिर वह बहुत संपन्न हो जाती है । उसको इस विजय यात्रा की सबसे महत्वपूर्ण प्रेरणा असल में सोमनाथ ही है । पति के उत्पीडन और बाद में उसके द्वारा छोड जाना ही अदिति के परिश्रमशील होने का कारण है। वह इसी कारण से अपने पैरों पर खडी हो जाती है । अंत में सोमनाथ को उसी पत्नी के सामने हाथ पसारना पडता है, जिसे उसने ठुकरा दिया था । इससे एक संदेश भी माचवे देते हैं । संदेश यह है कि यदि स्त्री स्वतंत्र रहती तो उसके व्यक्तित्व का विकास ज़रूर संभव होगा । सदियों से या तो पुरुष की शीतल छाया में या उसके अधिकार की गिरफ्त में रहनेवाली स्त्री अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर पा रही है । लेकिन यदि उसे स्वतंत्र जीवन बिताने का अवसर मिल जाय तो वह दशभुजा के समान शक्तिशाली सिद्ध होगी ।

उपन्यास के प्रत्येक अध्याय के पूर्व विभिन्न भाषाओं में रचित काली माँ के स्तोत्र गीत दिये गये हैं । जैसे दशभुजा मात्र एक

मिथकीय प्रयोग है, वैसे यह स्तोत्रगीत भी काली माँ की विराट शक्तिमात्र का परिचय देनेवाले हैं । कहने का मतलब है कि इन गीतों का कथा के साथ कोई संबंध नहीं है ।

व्यापक मूल्य विघटन का लेखा-जोखा - "अनदेखी"

भाचवे ने अपने अन्य उपन्यासों के समान "अनदेखी" में भी विविध साहित्यविधाओं का प्रयोग किया है । डायरी, पत्र आदि के साथ ढेर सारी कवितायें भी इस उपन्यास में सुलभ है । इस उपन्यास की नायिका दर्शना जीवन के कुछ सुनहले पक्ष के कारण अंधी हो जाती है । महाभारत की अंधी पात्र गांधारी के साथ दर्शना का काल्पनिक संवाद जो लेखक ने दिया है, वह बहुत ही प्रभावोत्पादक है । उपन्यास के सोलहवें अध्याय में एक विचित्र काल्पनिक संवाद दिया गया है । यह एक ही व्यक्ति की दो आँखों के बीच है । इसके माध्यम से दर्शना की बारीकियों का चीर-फाड किया गया है । बारहवें अध्याय में दहेज हत्याओं का जो लेखा-जोखा पत्रिकाओं के उद्धरण के रूप में दिया गया है, वह प्रासंगिक और विचारणीय है ।

उपन्यास के प्रारंभिक अध्यायों में जिन तीन पुरुषों के साथ दर्शना का संबंध हुआ था, उसका परिचय दिया गया है । वे हैं - रत्नाकर, आनंद और विनोद । वे तीनों मक्कार निकले । इसलिए

पुरुषों के प्रति उसका मनोभाव बिगड जाता है । कथानक के दूसरे मोड़ पर दर्शना अंधी हो जाती है । यह खण्ड माचवे के दार्शनिक विचारों से बोझिल हो गया है । यहाँ कथानक की गति भी मंद पड जाती है । तीसरे मोड पर, यह थोडा गतिशील हो जाता है । वैसे माचवे का उद्देश्य भी कोई मनोरंजक कहानी कहना नहीं है । उनके मन में उमडते-घुमडते प्रश्नों का हल करने का प्रयास ही उनके उपन्यास है ।[1]

निष्कर्ष

डा.प्रभाकर माचवे के उपन्यासों का समग्रत: विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके सभी उपन्यास प्रयोगधर्मी है । इसलिए वे शिल्प प्रधान भी है । जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व होता है, उसी प्रकार रचनाओं में भी व्यक्तित्व की विशिष्टतायें उभर आना भी स्वाभाविक है । माचवे का प्रत्येक उपन्यास इस कथन का प्रमाण है ।

माचवे ने अपने उपन्यासों में कथानक को शिल्प की अपेक्षा कम ही प्रमुखता दी है । क्योंकि उन केलिए कथा वाचन के बदले विचार संप्रेषण ही प्रमुख है । इसी वजह से उन्होंने देश-विदेश के साहित्यों से अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये हैं । दुनिया भर के दार्शनिकों तथा ज्ञान-विज्ञान के

---

1. प्रभाकर माचवे, अनदेखी, भूमिका

विभिन्न क्षेत्रों से वे गुज़रते भी हैं । भारतीय संस्कृति के विभिन्न पहलुओं से लेकर आधुनिक राजनीतिक क्षेत्र में हुई गिरावट तक को माचवे ने अपने कथ्य का विषय बनाया है ।

माचवे ज्ञान का भंडार है । जगह-जगह घूमने के कारण पात्रों के जीवन परिवेश को लिपिबद्ध करने में उन्हें कोई दिक्कत नहीं हुई हैं । इससे घुमक्कड स्वभाव का भी परिचय मिलता है । इस प्रकार उभारे गये जीवन परिवेशों में लोगों के रहन-सहन, संस्कृति, राजनीति आदि विभिन्न पहलू भी शामिल है । दर असल यह उनकी आँखों का एक कैमरा के समान कार्यरत होने का दस्तावेज़ हैं ।

माचवे के पात्र जीवन परिवेश से उद्भूत है । उन पात्रों को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में हम ज़रूर देख सकते हैं । उनके माध्यम से अपने विचारों की अभिव्यक्ति देने केलिए उन्होंने काफी नये-नये प्रयोग भी किये हैं । अत: माचवे ने पात्रों का सर्वाधिक लाभ उठाया है । यही उनकी शिल्प विधि की खूबी भी है ।

उपसंहार

उपसंहार

प्रभाकर माचवे एक प्रतिभावान साहित्यकार थे । कविता, उपन्यास, निबंध, रेखाचित्र, आत्मकथा, जीवनी, कहानी, पत्रकारिता, अनुवाद, संपादन आदि के अलावा चित्र रचना में भी उन्होंने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है । उनकी ढेर सारी साहित्यिक रचनाएँ प्रकाशित हैं अप्रकाशित भी । साहित्येतर क्षेत्र में भी माचवे प्रख्यात हैं । प्रशासक के रूप में केन्द्रीय साहित्य अकादमी की जो प्रगति उन्होंने करायी वह हमेशा याद की जाएगी । इन सब के ऊपर वे एक सच्चे एवं सहृदय मानव थे । उनके साहित्य तथा प्रशासन कार्यों की अपेक्षा माचवे का अधिक महत्त्व इसी कारण है ।

उक्त सभी बातें माचवे की व्यस्तता के कारण हो सकती हैं यही व्यस्तता साहित्यिक उत्कृष्टता की दृष्टि से उनकी सबसे बडी कमी भी है । माचवे की रचनाओं से गुज़रते वक्त ज़रूर महसूस होता है कि वे कहीं-कहीं गहन तथा कहीं कहीं सतही हो गयी हैं । इसका उत्तरदायित्व उनकी व्यस्तता पर मढ दिया जा सकता है । संभव है, कि माचवे अपनी व्यस्तता के कारण एकाग्र चित्त नहीं रह पाए हैं । अत: ऐसे प्रसंगों में सतहीपन स्वयंभूत हो जाता है ।

मेरा लक्ष्य यह साबित करना नहीं कि माचवे के साथ उच्चस्तरीय रचनाएँ असंभव हैं । यदि वे किसी एक क्षेत्र में अडे रहे होते तो

उनकी रचनाएँ अप्रत्याशित सफलता हासिल की होती । मेरा मतलब है कि माचवे की प्रतिभा अनेक क्षमताओं का संयोग है । जिन-जिन क्षेत्रों में उनकी क्षमता है उन सभी क्षेत्रों में वे कार्यरत रहे । अतः जिस प्रकार विभिन्न क्षेत्रों में वे कार्यरत रहे उसी प्रकार उनकी अतुलनीय क्षमताएँ भी बिखरी पड़ी रहीं ।

पाठक को गलतफहमी नहीं होनी चाहिए कि माचवे अपनी रचनाओं के संदर्भ में गंभीर नहीं है । "तारसप्तक" के सप्त तारों में एक होना ही उनकी सफलता का प्रमाण है । "परंतु", "जो", जैसे उपन्यास भी इसी के गवाह हैं । उनकी रचनाओं द्वारा संप्रेषित तमाम विचारों के संदर्भ में भी यह सही है । सभी समसामयिक समस्याओं का सम्यक् उभार उनकी रचनाओं में हुआ है । अतः सामयिक सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक परिवेश का लेखा-जोखा माचवे के साहित्य में, विशेषकर उपन्यास साहित्य में उपलब्ध हैं । इसका स्पंदन पाठक महसूस करता भी है । फिर कमी किस पहलू पर है ? जाहिर है, कि माचवे का साहित्य एक प्रयोगशाला है । माचवे केलिए प्रयोग की सीमातीत संभावनाएँ हैं । उनके उपन्यास प्रयोगों से कहीं-कहीं बोझिल हो गए हैं । कहीं-कहीं वे अबूझ-से हो गए हैं जबकि अधिकतर प्रसंगों में वे संप्रेषण के उत्तम माध्यम बन गए हैं । जहाँ एकाग्रता बिखर गयी है वहाँ संप्रेषणीयता का नुकीलापन विनष्ट हो गया है ।

देश विदेश के दर्शनों का प्रभाव उनके साहित्य पर पड़ा है । उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण गांधीवाद है । मार्क्स, फ्रॉयड आदि के नाम भी उल्लेखनीय हैं । सामाजिक समस्याओं के विश्लेषण के संदर्भ में माचवे ने

गांधीवाद को कसौटी बनायी है । गांधीदर्शन उनका अपना जीवन दर्शन भी है । संभव है कि इसीलिए उनके संपूर्ण साहित्य में मानवतावाद मुखरित है ।

माचवे के उपन्यास को समस्या केंद्रित कहा जा सकता है । भारतीय समाज की ज्वलंत समस्याओं में उन्होंने नारी समस्या को सर्वाधिक प्रमुखता दी है । उनकी राय में नारी समस्या व्यापक होने का सर्वप्रथम कारण भारतीय समाज को पुरुष प्रधानता है । अन्य वैयक्तिक तथा सामाजिक समस्याओं का भी विश्लेषण उनके उपन्यासों में हुआ है ।

माचवे के उपन्यासों में पाठकों को यथार्थता का बोध होता है । इसके दो कारण हो सकते हैं - प्रथम तो यह है कि उन्होंने स्थानों का असली नाम ही उपन्यासों में रखा है । स्थानों के चित्रण में उस जगह के परिवेश का समग्र चर्चा भी प्रस्तुत हुई है । दूसरा कारण है कि उनके पात्र हमारे परिचित व्यक्तियों से मेल खाते हैं । इसलिए आसानी से यथार्थ का बोध होता है ।

माचवे के उपन्यासों से विभिन्न जन-जातियों की सांस्कृतिक तथा सभ्यता परक चित्रण मिलता है । छात्र सहज जिज्ञासा के साथ ही घुमक्कड माचवे ने विभिन्न जगहों का दौरा किया है ।

रहन-सहन, रीति रिवाज़, उनका मतलब, उद्देश्य, जनता की वेश-भूषा, सांस्कृतिक बिरासत, आचरण की विशेषता, शैक्षिक स्तर, आदि उस जगह से जुडी सर्वांगीण जानकारी माचवे ने संग्रहीत किया है तथा अपनी रचनाओं में उनका उल्लेख भी किया है । अत: काल्पनिक पक्षों को अलग करने पर समाजशास्त्रीय अध्ययन केलिए माचवे के उपन्यास मूल्यवान सामग्री साबित होते हैं ।

प्रभाकर माचवे हिन्दी प्रेमी थे । मराठी भाषी होकर भी उन्होंने हिन्दी को प्रश्रय देने का अथक प्रयास किया । हिन्दी को राष्ट्रभाषा तथा राजभाषा बनाने में भी उनका काफी योगदान रहा है । हिन्दी के साथ-साथ अन्य भारतीय भाषाओं को भी उन्होंने प्रश्रय दिया । विदेशी भाषाओं में अंग्रेज़ी तथा रूसी पर उनका अधिकार था । अंग्रेज़ी में उन्होंने साहित्य रचना भी की है ।

जीवन काल हमेशा सीमित होता है ; इसलिए कि जीवन रूपी सिक्के के दो पहलू हैं जन्म तथा मृत्यु । मृत्युपरांत भी कुछ व्यक्ति जिन्दा रहते हैं । यह उन व्यक्तियों के सात्विक पक्ष की उच्चता तथा उनके किए कर्मों की महानता के कारण होता है । डा.प्रभाकर माचवे के संदर्भ में ये दोनों कारण प्रासंगिक हैं । व्यक्ति जीवन में वे सात्विक थे । सामाजिक जीवन में वे उच्चस्तरीय साहित्यकार तथा कुशल प्रशासक थे । अत: प्रभाकर माचवे की हमेशा याद की जाएगी, एक महान् संस्कृत कर्मी की हैसियत से ।

संदर्भ ग्रंथ सूची

क. प्रभाकर माचवे के उपन्यास

1. अनदेखी राजपाल, दिल्ली.
2. आँखें मेरी बाकी उनका विभूति प्रकाशन, दिल्ली, 1983.
3. एक तारा हिन्दी प्रचारक, वाराणसी, 1958.
4. कहाँ से कहाँ पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, 1978.
5. किशोर कृष्ण प्रकाशन, अजमेर, 1969.
6. किस लिए राजपाल, दिल्ली, 1975.
7. जो भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1965.
8. तीस-चालीस-पचास राजपाल, दिल्ली, 1973.
9. दर्द के पबंद हिन्दी भवन, इलाहाबाद, 1974.
10. दश भुजा विभूति प्रकाशन, दिल्ली, 1981.
11. धूत राजपाल, दिल्ली, 1976.
12. द्वाभा हिन्दी भवन, इलाहाबाद, 1952.
13. परंतु प्रगति प्रकाशन, 1951.
14. लक्ष्मीबेन राजपाल, दिल्ली, 1976.
15. लापता राजपाल, दिल्ली, 1984.
16. साँचा हिन्दी प्रचारक, वाराणसी, 1964.

ख. मौलिक ग्रंथ

1. इंसान (उपन्यास) यज्ञदत्त शर्मा, दिल्ली, 1961.
2. जवाहरलाल नेहरू (जीवनी) फैंक मोरेस, सरस्वती, इलाहाबाद.
3. झूठा सच (उपन्यास) यशपाल, लखनऊ, 1963.
4. फ्राम सेल्फ टू सेल्फ (अंग्रेज़ी आत्मकथा) प्रभाकर माचवे, नई दिल्ली, 197
5. बलचनमा (उपन्यास) नागार्जुन, इलाहाबाद, 1967.
6. बाँस का टुकडा (कविता) डा.ए.अरविन्दाक्षन

7. बीज {उपन्यास} अमृतराय, सर्जना प्रकाशन, इलाहाबाद, 1967.
8. बूँद और समुद्र {उपन्यास} अमृतलाल नागर, इलाहाबाद, 1956.
9. मैला आंचल {उपन्यास} फणीश्वरनाथ रेणु, नई दिल्ली, 1982.
10. सती मैया का चौरा {उपन्यास} भैरव प्रसाद गुप्त, इलाहाबाद, 1959.
11. सारा आकाश {उपन्यास} राजेन्द्र यादव, दिल्ली, 1960.
12. सुखदा {उपन्यास} जैनेन्द्र, दिल्ली, 1968.

ग. आलोचना साहित्य

1. अधर अर्पण सं. कमलकांत बुधकर, शिव जायसवाल, आयास प्रकाशन, हरिद्वार, 1977 संस्करण ।
2. आठवें दशक के हिन्दी उपन्यास डा. रामविनोद सिंह, अनुपम प्रकाशन नई दिल्ली ।
3. आधुनिक उपन्यास विविध आयाम डा. विवेकीराय, अनिल प्रकाशन, इलाहाबाद ।
4. उपन्यास समीक्षा के नए प्रतिमान डा. दंगल झाल्टे, नई दिल्ली, 1987
5. उपन्यासों की समीक्षा {सं} डा. सुषमा गुप्त, सूर्य प्रकाशन, दिल्ली ।
6. कन्स्ट्रक्टिव प्रोग्राम एम. के. गांधी, 1945 संस्करण ।
7. गांधी विचारधारा और हिन्दी उपन्यास डा. अरुणा चतुर्वेदी, कल्पकार प्रकाशन, लखनऊ ।
8. प्रभाकर माचवे सौ दृष्टिकोण {सं.} मारुती नंदन पाठक, परमिला प्रकाशन, बिहार, 1986 {प्रथम}.
9. प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक चेतना डा. अमरसिंह जगराम लोधा, अमर प्रकाशन, अहमदाबाद, 1985.
10. भारतीय चिंतन परंपरा के. दामोदरन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली

11. महात्मा गांधी जीवन और दर्शन रोमां रोलां, लोकभारती प्रकाशन, अहमदाबाद, 1993 (चतुर्थ)
12. महा समरोत्तर हिन्दी उपन्यासों में जीवन दर्शन डा. कलावती प्रकाश, श्याम प्रकाशन, 1987 (प्रथम)
13. माचवे जीवन यात्रा एक पड़ाव कलकत्ता (सं.) रतनलाल सुराणा, मित्र परिषद्, कलकत्ता, 1985.
14. मैं इनसे मिली (द्वितीय खंड) आशा रानी व्होरा, कृष्ण ब्रदर्स, आजमेर, 1985 (प्रथम)
15. वर्ग सहयोग के प्रवर्तक प्रकाशन शाखा, उत्तर प्रदेश, सूचना विभाग ।
16. हिन्दी उपन्यास एक अंतर्यात्रा रामदरश मिश्र, राजकमल, दिल्ली, 1982 (द्वितीय)
17. हिन्दी उपन्यास प्रेमचन्द तथा उत्तर प्रेमचंद काल डा. सुषमा धवन, राजकमल, दिल्ली ।
18. हिन्दी उपन्यास में चेतना प्रवाह पद्धति डा. मोहलाला कपूर, साकेत समीर प्रकाशन, 1988 (प्रथम)
19. हिन्दी उपन्यास सातवें दशक जयश्री दरहाटे, संघयन, कानपुर, 1988 (प्रथम)
20. हिन्दी उपन्यास सिद्धांत और विवेचन (सं.) महेन्द्र माखनलाल शर्मा, साहित्यरत्न भंडार, आगरा ।
21. हिन्दी उपन्यास स्वातंत्र्य संघर्ष के विविध आयाम श्री. डी. तिवारी, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, 1985 (प्रथम).
22. हिन्दी उपन्यासों में प्रतीकात्मक शिल्प डा. सुशीला शर्मा, सिद्धराम पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1982 (प्रथम)
23. हिन्दी उपन्यासों में शिल्प विधान डा. प्रदीपकुमार शर्मा, अभय प्रकाशन, कानपुर, 1990 (प्रथम)

24. हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक चेतना डा. अमरसिंह जगराम लोधा, चिंतन प्रकाशन, कानपुर, 1985 (द्वितीय).
25. हिन्दी के आंचलिक उपन्यास डा. मृत्युंजय उपाध्याय, चित्रलेख प्रकाशन, इलाहाबाद ।
26. साहित्य और भाषाशास्त्र (सं.) आनंद स्वरूप पाठक, शिक्षा ग्रंथकार, मथुरा, 1975 (संस्करण) ।
27. सृजन की मनोभूमि डा. रणवीर रांग्रा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली ।
28. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास साहित्य में शिल्प विधि का विकास डा. तहसीलदार दुबे, नटराज पब्लिशिंग हाउस, करनाल, 1983 (प्रथम) ।
29. स्वातंत्र्योत्तर कथासाहित्य और ग्राम जीवन विवेकी राय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1974 (प्रथम) ।

घ. पत्र पत्रिकाएँ

1. धर्मयुग, जुलाई 1991.
2. नई दुनिया, 20 सितंबर, 1991.
3. नवभारत टाइम्स, 23 जून, 1991.
4. नवभारत टाइम्स, 18 जून, 1991.
5. परिषद् समाचार, जुलाई, अगस्त, सितंबर, 1991.
6. प्रकर, अक्तूबर, 1974.
7. प्रकर, सितंबर, 1976.
8. प्रकर, नवंबर, 1977.
9. प्रकर, मई, 1979.
10. प्रकर, मई, 1985.
11. भाषा (त्रैमासिक), दिसंबर, 1991.

12. यंग इंडिया, मार्च, 1922.

13. यंग इंडिया, 21 मई, 1925.

14. यंग इंडिया, 16 अगस्त, 1931.

15. हिन्दी नवजीवन, 2 सितंबर, 1929.

16. हिन्दुस्तान, 7 जुलाई, 1991.

17. समीक्षा, मई-जून, 1976.